उदाराशयता है। मैंने भारतीय दर्शन का जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है सो उन्हीं के चरणों में बैठ कर। बल्कि जब कभी एतद्विषयक कृति उनको अर्पण करता हूँ तब यही भाव मन में आता है कि—*त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पितम्।*

इस पुस्तक का प्रकाशन ऐसे समय में हुआ है, जब ध्वंसकारी युद्ध के कारण छपाई के सभी उपकरण दुष्प्राप्य हो रहे हैं। इसी कारण, प्रथम खण्ड मे जैसा बढ़िया कागज लगा, वैसा इसमे नहीं लग सका। कहीं २ अनवधानत वश मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। जैसे, पृष्ठ ११ मे '*कारिकावली*' के स्थान में '*कारिकावली*,' और पृष्ठ ६२ मे '*परिमाण*' के स्थान मे '*परिमाणि*' छप गया है। विज्ञ पाठक इन भूलों को सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। अगले संस्करण मे ये दोष परिमार्जित कर दिये जायँगे, और छपाई भी अधिक मनोनुकूल होगी।

यदि ईश्वर की कृपा से परिस्थिति अनुकूल रही तो अग्रिम खण्ड भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायँगे।

—लेखक

विषय-सूची

पृ —

संकेत

त० कौ०	=	तर्क कौमुदी
त० दी०	=	तर्क दीपिका
त० सं०	=	तर्क संग्रह
ता० र०	=	तार्किक रक्षा
न्या० क०	=	न्याय कन्दली
न्या० को०	=	न्याय कोश
न्या० सू०	=	न्याय सूत्र
प० च०	=	पदार्थ चन्द्रिका
प० ध०सं०	=	पदार्थ धर्म संग्रह
भा० प०	=	भाषा परिच्छेद
वा० भा०	=	वात्स्यायन भाष्य
वै० उ०	=	वैशेषिक उपस्कार
वै० सू०	=	वैशेषिक सूत्र
स० द० सं०	=	सर्व दर्शन संग्रह
स० प०	=	सप्त पदार्थी
स० मु०	=	सिद्धान्त मुक्तावली

विषय-प्रवेश

[वैशेषिक का अर्थ—वैशेषिक कर्त्ता कणाद—वैशेषिक की प्राचीनता—वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य—वैशेषिक सूत्र का विषय—वैशेषिक साहित्य—वैशेषिक का सार—वैशेषिक दर्शन के मूल-सिद्धान्त]

'वैशेषिक' का अर्थ— महर्षि कणाद ने जिस दर्शन की रचना की है, वह वैशेषिक नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा, इस विषय में कई मत हैं।

(१) कुछ लोगों का कहना है कि 'विशेष' नामक पदार्थ मानने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा है।

विशेषं पदार्थभेदमधिकृत्य कृतं शास्त्रम् वैशेषिकम्

—न्यायकोश

वैशेषिकों का कहना है कि संसार में प्रत्येक वस्तु अपनी विशिष्ट सत्ता रखती है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है। वेदान्त के मत से सभी वस्तुएँ मूलतः एक हैं। वैशेषिक इस मौलिक एकता (Fundamental Unity) को स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार वस्तुओं की *अनेकता* (Pluralism) और *भिन्नता* (Difference) ही मूल तत्त्व (Realities) हैं। किसी वस्तु को, जैसे एक घट को, ले लीजिये। उसमें रूप, रंग आदि नाना गुण वर्त्तमान हैं। किन्तु ये सब गुण अन्यान्य घटों में भी पाये जाते हैं। अतएव वे *सामान्य* (Common) हैं। किन्तु उस घट की एक अपनी खास विशिष्ट सत्ता (Individuality) है, जो अन्यान्य घटों में नहीं है। यह विशिष्ट सत्ता, जो एक वस्तु को अन्यान्य वस्तुओं से पृथक्करण (Differentiation) करती है, विशेष कहलाती है। परमाणु में सामान्यों को छाँटते-छाँटते अन्त में जो भाग अवशेष रह जाता है, वही *विशेष* (Ultimate residue) है।

अन्ते अविभाज्य रूपेण अवशिष्यते इति विशेषः।

प्रत्येक परमाणु का अपना पृथक् पृथक् 'विशेष' या व्यक्तित्व है। प्रत्येक मूल सत्ता (Fundamental Reality) में एक विशेष का अन्तर्भाव दूसरे में नहीं हो सकता। इसी विशेषमूलक भिन्नता (Atomistic Pluralism) को मानने के कारण **कणाद** प्रणीत दर्शन *वैशेषिक* कहलाता है।

(२) कुछ लोगों की राय है कि अन्यान्य दर्शनों से विलक्षण होने के कारण ही **कणाद** का दर्शन *वैशेषिक* नाम से प्रसिद्ध है। पदार्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण (Analysis) जितना **वैशेषिक** दर्शन में मिलता है, उतना और किसी में नहीं। **वेदान्त दर्शन** केवल एक ही सत्ता (*ब्रह्म*) के अभ्यन्तर सभी वस्तुओं का सन्निवेश करना चाहता है। **सांख्यदर्शन** दो सत्ताओं (*प्रकृति* और *पुरुष*) के अभ्यन्तर सभी वस्तुओं का समावेश करना चाहता है। किन्तु **वैशेषिक दर्शन** सभी वस्तुओं की अलग अलग सत्ता स्वीकार करता है। जहाँ और-और दर्शनों का दृष्टिकोण सश्लेषणात्मक (Synthetic) है, वहाँ वैशेषिक का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक (Analytic) है। **माधवाचार्य** कहते हैं—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

—सर्वदर्शनसंग्रह

वास्तविक भिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए, सूक्ष्म विश्लेषण में जिसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं हो, वही *वैशेषिक* है।

वैशेषिककर्त्ता कणाद—जिस प्रकार *न्यायसूत्र* के कर्त्ता **गौतम** ऋषि हैं, उसी प्रकार *वैशेषिक सूत्र* के रचयिता हैं **महर्षि कणाद**। इनका नाम *कणाद* क्यों पड़ा इस विषय में एक दन्तकथा है। कहा जाता है कि ये महर्षि दार्शनिक तत्त्वों के अनुसन्धान में इस तरह अपनेको भूले रहते थे कि खाने पीने की सुध भी नहीं रहती थी। जब क्षुधा की ज्वाला दुर्निवार हो उठती थी तब ये खेत में बिखरे हुए अन्नकणों से अपनी उदर-पूर्त्ति कर लेते थे और पुनः सूत्र-रचना में लग जाते थे। अतः ये **कणाद** या **कणभक्ष** के नाम से प्रसिद्ध हुए।*

महर्षि कणाद के दो और नाम प्रचलित हैं—**काश्यप** और **उलूक**। काश्यप गोत्र में उत्पन्न होने के कारण ये *काश्यप* कहलाते हैं। 'उलूक' नाम के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती है कि साक्षात् भगवान् ने उलूक रूप में अवतीर्ण होकर इन्हें पदार्थ-तत्त्व की विद्या प्रदान की थी।†

---

* कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतोरथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता कणादसंज्ञा। अतः स कणाद इति कणभक्ष इति वा नाम्ना प्रसिद्धिमवाप। —सर्वदर्शनसंग्रहटीका।

† तपस्विने कणादमुनये स्वयमीश्वर उलूकरूपधारी, प्रत्यक्षीभूय पदार्थषट्कमुपदिदेशेत्यैतिह्यं श्रूयते। —सर्वदर्शनसंग्रहटीका

सर्वदर्शनसंग्रह में वैशेषिक दर्शन के लिये औलूक्यदर्शन नाम प्रयुक्त हुआ है। यह भी संभव है कि बौद्धादि विपत्तियों ने चिढ़कर वैशेषिककार के लिये उलूक की संज्ञा दी हो और यह नाम काल-क्रम से प्रचलित हो गया है।

वैशेषिक की प्राचीनता—वैशेषिक दर्शन बहुत ही प्राचीन है। कुछ लोगों का मत है कि यह न्याय से भी अधिक प्राचीन है। इस मत का आधार यह है कि गौतम-सूत्र में तथा वात्स्यायन भाष्य में वैशेषिक के सिद्धान्त मिलते हैं, किन्तु कणाद-सूत्र तथा प्रशस्तपाद भाष्य में न्याय की कोई छाप नहीं पाई जाती। इससे अनुमान होता है कि वैशेषिक की रचना पहले हुई और न्याय की पीछे।

एक बात और। वैशेषिक मुख्यतः पदार्थ शास्त्र (Ontology) है और न्याय मुख्यतः *प्रमाण शास्त्र* (Epistemology)। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह पहले बहिर्जगत् की ओर झुकता है। अन्तर्जगत् की ओर उसका ध्यान पीछे जाता है। इससे भी यही बात अधिक संभव मालूम होती है कि न्याय से पूर्व ही वैशेषिक की रचना हुई।

कणाद के समय का ठीक पता नहीं चलता। किन्तु इतना निश्चित-सा है कि बुद्धदेव और महावीर से बहुत पहले ही वैशेषिक दर्शन का प्रचार हो चला था। बौद्ध दर्शन के *निर्वाण-सिद्धान्त* पर वैशेषिक के *असत्कार्यवाद* की गहरी छाप है। जैन दर्शन में जो *परमाणुवाद* है वह वैशेषिक से लिया गया है। *लंकावतार सूत्र* देखने से साफ पता चलता है कि जैन सिद्धान्तों के निरूपण में वैशेषिक का कितना प्रभाव पड़ा है। *ललितविस्तर* आदि ग्रन्थों में भी इस बात के चिह्न पाये जाते हैं।

वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य—न्यायकर्त्ता गौतम की तरह वैशेषिककार भी आरम्भ ही में अपने दर्शन का उद्देश्य बतला देते हैं। यह उद्देश्य है *निःश्रेयस* वा *मोक्ष* की प्राप्ति। वैशेषिक दर्शन का पहला सूत्र है—

अथातो धर्म व्याख्यास्यामः

धर्म की विवेचना करना ही वैशेषिक शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। अब यह धर्म है क्या वस्तु ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार दूसरे सूत्र में देते हैं—

जिससे सुख और मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है। निःश्रेयस का अर्थ है *मुक्ति* अर्थात् सभी दुःखों से सर्वदा के लिये छुटकारा पा जाना। इसी बात को आचार्यों ने इन शब्दों के द्वारा बतलाया है।

(मुक्तिः) *आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः*
—वै० उ० १।१।४

(मोक्षः) *परमदुःखध्वंसः*
—तर्कदीपिका

(मोक्षः) *आत्यन्तिको दुःखाभावः*
—न्यायवार्तिक

(मुक्तिः) *अहितनिवृत्तिरात्यन्तिकी*
—न्यायकन्दली

श्रेय या कल्याण दो प्रकार का होता है—

(१) *दृष्ट*—अर्थात् इष्ट की प्राप्ति।

(२) *अदृष्ट*—अर्थात् अनिष्ट की निवृत्ति।

अदृष्ट श्रेय या अहित-निवृत्ति भी दो प्रकार की होती है—

(१) *अनात्यन्तिकी*—अर्थात् क्षणिक दुःखनिवृत्ति। जैसे—काँटे से बचना। यह दुःखाभाव अस्थायी है। क्योंकि कालान्तर में वैसा ही दुःख पुनः उपस्थित हो सकता है।

(२) *आत्यन्तिकी*—अर्थात् शाश्वत दुःखनिवृत्ति। दुःख के जो मूलकारण वा बीज हैं, उन्हीं को नष्ट कर देने से दुःख का ध्वंस हो जाता है।

दुःखध्वंसः दुःखानुत्पत्तिः

दुःख का चरम ध्वंस वह है जिसके बाद फिर कभी दुःख की उत्पत्ति ही न हो सके। इसी अवस्था का नाम *निःश्रेयस* वा मुक्ति है।

यह निःश्रेयस वा मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, यह सूत्रकार अन्तिम सूत्र में बतलाते हैं—

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् —वै० सू० १।१।४

जिस प्रकार महर्षि गौतम प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष का होना बतलाते हैं, उसी प्रकार महर्षि कणाद द्रव्य, गुण आदि षट् पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष का होना बतलाते हैं।

वैशेषिक सूत्र का विषय—वैशेषिक सूत्र दस अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। किस अध्याय में कौन-कौन विषय वर्णित हैं, इसका विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) प्रथम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—सर्वप्रथम सूत्रकार यह प्रतिज्ञा करते हैं कि धर्म क्या है इसकी व्याख्या वे अपने दर्शन में करेंगे।[1] फिर वे धर्म की परिभाषा बतलाते हैं।[2] जिसके द्वारा अभ्युदय हो, जिसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है।[3] उनका कहना है कि द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से मुक्ति हो सकती है। तदनन्तर वे षट् पदार्थों का वर्णन आरम्भ करते हैं। प्रथम आह्निक में विशेषतः द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षण[4] तथा उनके प्रभेद[5] बतलाये गये हैं। इन तीनों के साधर्म्य (Similarity) और वैधर्म्य (Difference) भी दिखलाये गये हैं।[6]

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें सूत्रकार कहते हैं कि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है,[7] किन्तु काय के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता।[8] फिर वे दिखलाते हैं कि सामान्य और विशेष का ज्ञान बुद्धिसापेक्ष है।[9] तदनन्तर वे शुद्ध सत्ता वा भाव (Pure Existence) का लक्षण बतलाते हुए[10] उसकी विवेचना करते हैं।[11]

---

१ अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः—१।१।१

२ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः—१।१।२

३ धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् —१।१।३

४ वै० सू० १।१।१५—१७

५ वै० सू० १।१।५ —७

६ वै० सू० १।१।८ —११

७ कारणाभावात कार्याभावः १।२।१

८ न तु कार्याभावात् कारणाभावः १।२।२

९ सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् १।२।३

१० सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता १।२।७

११ वै० सू० १।२।८—१७

(२) द्वितीय अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश के लक्षण दिये गये हैं[1] और उनकी समीक्षा की गई है।

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें मुख्यतः निम्नलिखित विषय हैं—पृथ्वी, तेज और जल के स्वभाविक गुणों (*गन्ध, उष्णता शीतता प्रभृति*) का वर्णन[2], दिशा और काल के लक्षण[3], शब्द नित्य है वा अनित्य इसकी विवेचना।[4]

(३) तृतीय अध्याय—

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें सूत्रकार नाना प्रकार की युक्तियों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व प्रतिपादन करते हैं। प्रसङ्गानुसार निम्नलिखित विषयों की विवेचना की गई है—

(१) भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के विषय (Objects) और उन सबका उपयोग करने-वाला आत्मा[5]।

(२) ज्ञान (Consciousness) शरीर वा इन्द्रिय का गुण नहीं है[6]।

(३) अनुमान के लिङ्ग, हेतु वा अपदेश (*Reason*) का लक्षण[7]।

(४) अनपदेश वा हेत्वाभास (Fallacy) के लक्षण और प्रभेद[8]।

(५) प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये विषय, इन्द्रिय और आत्मा का संयोग होना आवश्यक है[9]।

(६) आत्मा अनेक हैं इसका प्रमाण[10]।

---

१ वैशेषिक सूत्र २।१।१—५
२ ,, ,, २।२।१—५
३ ,, ,, २।२।६—१६
४ ,, ,, २।२।२१—३७
५ ,, ,, ३।१।१—२
६ ,, ,, ३।१।३—७
७ ,, ,, ३।१।८—१४
८ ,, ,, ३।१।१५-१७
९ ,, ,, ३।१।१८
१० ,, ,, ३।१।१९

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—

(१) मन का अस्तित्व सिद्ध करने के हेतु प्रमाण[1]

(२) वायु की तरह मन भी द्रव्य है[2]

(३) प्रत्येक शरीर में एक-एक मन है[3]

(४) आत्मा के चिह्न[4]

(५) आत्मा और शरीर में भेद[5]

(६) आत्मानेकत्ववाद (Plurality of Selves)[6]।

(४) चतुर्थ अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें परमाणु का निरूपण किया गया है। सभी वस्तुओं के मूल तत्त्व हैं परमाणु। उन्हीं के संयोग से सभी भौतिक द्रव्य बनते हैं। कारणस्वरूप परमाणु नित्य हैं। अवयवरहित होने के कारण उनका विनाश नहीं हो सकता। कार्य-द्रव्य सावयव होने के कारण अनित्य हैं।[7]

(ख) *द्वितीय आह्निक*—पृथ्वी आदि से बने हुए कार्य-द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) शरीर (२) इन्द्रिय, और (३) विषय। शरीर भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।[8]

(५) पञ्चम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें कर्म का वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं, यह दृष्टान्तों के द्वारा दिखलाया गया है।[9]

---

१ आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् — वै सू ३।२।१

२ तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते—वै सू ३।२।२

३ प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्—वै सू. ३।२।३

४ प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि—वै. सू. ३।२।४

५ वै. सू ३।२।६–१७

६ „ „ ३।२।१८–२१

७ सदकारणवन्नित्यम्–वै सू. ४।१।१

८ तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च—वै. सू. ४।२।५

९ वै० सू० ५।१।१—१८

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें भी कर्मों की परीक्षा की गई है। ऐच्छिक क्रियाओं तथा प्राकृतिक घटनाओं के कारण बतलाये गये हैं।[१] अदृष्ट की शक्ति तथा सुखदुःख की उत्पत्ति की भी मीमांसा की गई है।[२] अन्त में यह दिखलाया गया है कि कर्म का अत्यन्ताभाव होने से मोक्ष वा चरमदुःख निवृत्ति होती है।[३] दिक्, काल, आकाश और आत्मा, ये निष्क्रिय हैं। दिक् और काल निष्क्रिय होते हुए भी सकल क्रियाओं के आधार हैं।[४] इसी प्रसंग में यह भी दिखलाया गया है कि अन्धकार कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, किन्तु केवल तेज का अभाव मात्र है।[५]

(६) षष्ठ अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें वेदानुसार धर्म और अधर्म की मीमांसा तथा कर्त्तव्य की व्याख्या की गई है।[६]

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें निम्नोक्त विषय वर्णित हैं—दृष्ट प्रयोजन कर्म (जैसे कृषि)—और अशुचि कर्म—रागद्वेष के कारण—मोक्ष का स्वरूप।[७]

(७) सप्तम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें अणु (Atom) और महत् (Volume), ह्रस्व और दीर्घ, आकाश और आत्मा, तथा दिक् और काल की समीक्षा की गई है।

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें एकता, पृथक्त्, संयोग, वियोग, शब्दार्थ सयोग, परत्व तथा समवाय की विवेचना की गई है।

(८) अष्टम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें सामान्य तथा विशेष ज्ञान की व्याख्या की गई है।

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और उनकी प्रकृतियों का वर्णन किया गया है।

---

१ वैशेषिक सूत्र ५।२।१—१४
२ „ „ ५।२।१५—१७
३ „ „ ५।२।१८
४ „ „ ५।२।२१—२६
५ „ „ ५।२।१९—२०
६ „ „ ६।१।१—१६
७ „ „ ६।२।१—१६

(९) नवम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—इसमें असत्कार्यवाद का प्रतिपादन तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के अभावों का वर्णन किया गया है।

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें अनुमान, शब्द, उपमान, स्मृति, स्वप्न, अविद्या और विद्या की विवेचना की गई है।

(१०) दशम अध्याय

(क) *प्रथम आह्निक*—सुखदुःख तथा ज्ञान में क्या भेद है, यह इसमें दिखलाया गया है।

(ख) *द्वितीय आह्निक*—इसमें समवायिकारण, असमवायिकारण प्रभृति के भेद बतलाये गये हैं। अन्त में वेद की प्रामाणिकता तथा मोक्षसाधनता का प्रतिपादन किया गया है।

वैशेषिक साहित्य—वैशेषिक दर्शन का आधार-ग्रन्थ है महर्षि **कणाद** कृत **वैशेषिक सूत्र**। वैशेषिक सूत्र के ऊपर **प्रशस्तपादाचार्य** का प्रसिद्ध भाष्य* है जिसका नाम है **पदार्थधर्मसंग्रह** भाष्य का लक्षण यह है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते येन पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

अर्थात् सूत्रों का क्रमानुसार अर्थ करते हुए उस अर्थ की व्याख्या करना ही भाष्य कहलाता है।

किन्तु आचार्य **प्रशस्तपाद** ने कणादोक्त सूत्रों का अनुसरण नहीं करते हुए स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन किया है। **पदार्थधर्मसंग्रह** में षट् पदार्थों का विशद विवेचन, चौबीस प्रकार के गुणों का निरूपण तथा सृष्टि और प्रलय का वर्णन किया गया है। इसमें बहुत-सी बातें—जैसे पाकजोत्पत्ति, विभागजविभाग आदि—ऐसी हैं, जिनका कणाद के सूत्रों में नामोल्लेख तक नहीं पाया जाता। पदार्थधर्मसंग्रह वैशेषिक सिद्धान्तों का अमूल्य भंडार है। इसे भाष्य नहीं कहकर मौलिक ग्रन्थ कहना ही अधिक उपयुक्त है।

पदार्थधर्मसंग्रह पर निम्नलिखित चार प्रमुख टीकाएँ हैं—

(१) **श्रीधर** कृत *न्यायकन्दली* टीका

(२) **व्योमशिवाचार्य** कृत *व्योमवती* टीका

---

* वैशेषिक सूत्र पर एक भाष्य रावणकृत है जो रावणभाष्य कहलाता है, किन्तु वह दुष्प्राप्य है।

(३) उदयनाचार्य कृत *किरणावली* टीका

(४) श्रीवत्स (वल्लभ) कृत *लीलावती* टीका

श्रीधर तथा उदयनाचार्य ने ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने की चेष्टा की है और 'अभाव' नामक एक सातवाँ पदार्थ भी माना है।

उसके बाद से तो सात पदार्थ मानने की परिपाटी ही वैशेषिक दर्शन में चल गई। शिवादित्य ने अपनी कृति का नाम ही रक्खा *सप्तपदार्थी*। इसमें सातों पदार्थों का सम्यक् रूप से उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा की गई है।

न्याय और *वैशेषिक* की धाराएँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलने पर भी कुछ दूर जाकर एक हो गईं। नैयायिकों ने वैशेषिक का पदार्थ-भाग ग्रहण कर लिया, वैशेषिकों ने न्याय का प्रमाण-भाग अपना लिया। धीरे-धीरे दोनों के बीच की खाई भरने लगी और पीछे जो ग्रन्थ लिखे गये वे न्याय वैशेषिक के सम्मिलित सम्प्रदाय (Syncretic School) के अङ्ग बनते गये।

कणाद सूत्र पर शङ्कर मिश्र रचित *उपस्कार* नामक टीका है। एक वृत्ति भरद्वाज रचित है जो *भारद्वाज* वृत्ति कहलाती है। जयनारायण कृत *विवृति* भी प्रसिद्ध है। नागेश और चन्द्रकान्त रचित दो वृत्तियाँ और मिलती हैं।

उदयनाचार्य कृत *किरणावली* पर दो टीकाएँ मिलती हैं—एक वर्धमान उपाध्याय कृत *किरणावली प्रकाश*, दूसरी पद्मनाभ रचित *किरणावली भास्कर*।

शिवादित्य की *सप्तपदार्थी* वैशेषिक का उपयोगी सारग्रन्थ है। लोकप्रिय होने के कारण इसपर अनेक टीकाएँ रची गई हैं। उनमे विशेष उल्लेखनीय ये हैं—

(१) मल्लिनाथ कृत *निष्कंटक* टीका।

(२) माधवसरस्वती कृत *मितभाषिणी* टीका।

(३) शार्ङ्गधर कृत *पदार्थचन्द्रिका*।

(४) भैरवेन्द्र कृत *शिशुबोधिनी*।

एतदतिरिक्त इस ग्रन्थ पर जिनभद्र सूरि, बलभद्र तथा शेषानन्त आचार्य प्रभृति की भी रचित टीकाएँ हैं।

उदयनाचार्य कृत *लक्षणावली* भी वैशेषिक का आदरणीय ग्रन्थ है। इसपर शार्ङ्गधर कृत *न्यायमुक्तावली* नामक टीका है।

वल्लभ न्यायाचार्य की *न्यायलीलावती* एक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। **लौगाक्षिभास्कर** कृत *तर्ककौमुदी* का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। इसपर **मोहनभट्ट** विरचित एक टीका मिलती है। लौगाक्षिभास्कर की **पदार्थमाला** में पदार्थों की सरल व्याख्या है।

इनके अतिरिक्त **जगदीश** कृत *तर्कामृत*, **मित्रमिश्र** रचित *पदार्थचन्द्रिका*, **भगीरथमेघ** कृत *द्रव्यप्रकाशिका* प्रभृति न्याय-वैशेपिक के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

विश्वनाथ पंचानन कृत *भाषापरिच्छेद* अत्यन्त सुबोध और छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। इसमें वैशेपिक के मूल सिद्धान्त सरल श्लोकों में वर्णित हैं। इसका दूसरा नाम *कारिकावली* भी है। इसपर ग्रन्थकार की स्वरचित टीका है जो *सिद्धान्तमुक्तावली* या *मुक्तावली* नाम से प्रसिद्ध है।

मुक्तावली पर **रुद्राचार्य** कृत *रौद्री टीका* तथा **दिनकर** कृत *दिनकरी* टीका विशेप प्रचलित हैं। इनके अलावा **त्रिलोचन** तथा **बालकृष्ण भट्ट** की *मुक्तावली टीका* है।

अन्नम्भट्ट का *तर्कसंग्रह* सबसे अधिक लोकप्रिय है। सरल और संक्षिप्त होने के कारण यह छात्रों के हेतु विशेप रूप से उपयोगी है। इसपर ग्रन्थकार की स्वरचित *तर्कसंग्रह दीपिका* नामक टीका है। दीपिका पर **नीलकण्ठ** रचित *तर्कदीपिका प्रकाश* है। **श्रीनिवास** शास्त्री की भी एक टीका तर्कदीपिका पर है जो सुरकल्पतरु कहलाती है।

लक्ष्मीनृसिंह ने तर्कदीपिका प्रकाश की टीका लिखी है जो *भास्करोदय* नाम से विख्यात है।

एतदतिरिक्त तर्कसंग्रह पर निम्नलिखित प्रमुख टीकाएँ हैं—

(१) **गोवर्धन** कृत *न्यायबोधिनी*।

(२) कृष्णधूर्जटि कृत *सिद्धान्तचन्द्रोदय*।

(३) क्षमाकल्याण कृत फक्किका।

(४) **विन्ध्येश्वरी** कृत *तरङ्गिणी*।

(५) हनुमान कृत *प्रभा*।

(६) चन्द्रसिंह कृत पदकृत्य।

(७) मुकुन्दभट्ट कृत चन्द्रिका।

न्याय-वैशेषिक पर जो रचनायें हुई हैं वे मुख्यतः दो प्रणालियों से—

(१) *न्याय के मार्ग से वैशेषिक*। अर्थात् गौतमोक्त षोडश पदार्थों को लेकर *प्रमेय* (Object) के अभ्यन्तर सभी वैशेषिक पदार्थों (द्रव्य गुण आदि) का वर्णन कर देना। शिवादित्य की *सप्तपदार्थी* इसी प्रणाली से लिखी गई है।

(२) *वैशेषिक के मार्ग से न्याय*। अर्थात् वैशेषिक के सात पदार्थों को लेकर *प्रमा* (Cognition) के अभ्यन्तर न्याय के सभी विषयों का समावेश कर देना। अन्नमभट्ट का *तर्कसंग्रह* इसका उदाहरण है।

वैशेषिक का सार—

षड्दर्शनसमुच्चय में वैशेषिक दर्शन का निचोड़ केवल आठ श्लोकों में दे दिया गया है—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम्।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥१॥
तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि।
कालदिगात्ममनांसि गुणाः पुनश्चतुर्विंशतिधा ॥२॥
स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्याविभागसंयोगौ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥३॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मौ प्रयत्नसंस्कारौ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥४॥
उत्क्षेपावक्षेपाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम्।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥५॥
तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथविशेषस्तु।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत् ॥६॥
य इहायुत सिद्धानामाधाराधेय भूतभावानाम्।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः स समवायः ॥७॥
प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा।
वैशेषिकमतस्यैवं संक्षेपः परिकीर्तितः ॥८॥

अर्थात्—

(१) वैशेषिक मतानुसार छः पदार्थ हैं—(१) *द्रव्य*, (२) *गुण*, (३) *कर्म*, (४) *सामान्य* (५) *विशेष* और (६) *समवाय*।

(२) द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा और (९) मन।

(३) गुण चौबीस प्रकार के हैं—(१) स्पर्श, (२) रस, (३) रूप, (४) गन्ध, (५) शब्द, (६) संख्या, (७) विभाग, (८) संयोग, (९) परिमाण, (१०) पार्थक्य. (११) परत्व, (१२) अपरत्व, (१३) बुद्धि, (१४) सुख, (१५) दुःख, (१६) इच्छा, (१७) धर्म, (१८) अधर्म, (१९) प्रयत्न, (२०) संस्कार, (२१) द्वेप, (२२) स्नेह, (२३) गुरुत्व और (२४) द्रवत्व।

(४) कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—(१) उत्क्षेप, (२) अवक्षेप, (३) आकुञ्चन, (४) प्रसारण और (५) गमन।

(५) सामान्य दो प्रकार का होता है—(१) सत्तासामान्य और (२) द्रव्यत्वादि (विशिष्ट) सामान्य।

(६) प्रत्येक परमाणु में अपना-अपना खास विशेष होता है जो औरों से उसका पृथक् निर्देश करता है।

(७) अवयव और अवयवी में, आधार और आधेय में, (जैसे सूत और वस्त्र में) जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है।

(८) वैशेपिक दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान, इन दो प्रमाणों को मानता है।

वैशेपिक दर्शन के मूल सिद्धान्त—वैशेपिक दर्शन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त नीचे दिये जाते हैं—

(१) **परमाणुवाद**—जगत् के मूल उपादान परमाणु (Atoms) हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनी हैं।

(२) **अनेकात्मवाद**—आत्मा अनेक हैं। अपने-अपने अदृष्टानुसार कर्मफल भोग करने के लिये वे उपयुक्त शरीर धारण करते हैं।

(३) **असत्कार्यवाद**—कारण से कार्य उत्पन्न होता है। कार्य अनित्य है। उत्पत्ति से पहले कार्य का अभाव रहता है। विनाश के बाद फिर उसका अभाव हो जाता है।

(४) **परमाणुनित्यतावाद**—परमाणु नित्य हैं। उनमें अवयव नहीं रहने के कारण उनका कभी विनाश नहीं हो सकता। कार्यद्रव्य सावयव होने के कारण अनित्य हैं। अवयवों

का विच्छेद होना ही विनाश कहलाता है। आत्मा, मन, दिक्, काल और आकाश भी निरवयव होने के कारण अविनाशी और नित्य हैं।

(५) **षट्पदार्थवाद**—भाव पदार्थ छ हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष और (६) समवाय।

(६) **सृष्टिवाद**—बिना कारण के कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है। उसका कर्त्ता ईश्वर है। जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिकादि उपादानों को लेकर घट की रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर परमाणुओं की सहायता से संसार की रचना करता है।

(७) **मोक्षवाद**—जीवों को कर्मानुसार फल देनेवाला ईश्वर है। प्रत्येक जीव को अपने कर्म के अनुरूप शरीर ग्रहण करना पड़ता है। और, जबतक कर्मफल का भोग निःशेष नहीं होता तबतक संसार में उसका आवागमन जारी रहता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य कर्मचक्र का परित्याग कर भवपाश से विमुक्त हो जाता है और तब सभी दुःखों से सर्वदा के लिये निवृत्ति मिल जाती है। इसी मोक्षावस्था को प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है।

पदार्थ

[पदार्थ की परिभाषा—छः पदार्थ—सातवाँ पदार्थ—गौतम और कणाद के पदार्थों में भेद]

पदार्थ की परिभाषा—वैशेषिक दर्शन को 'पदार्थशास्त्र' कहा जाता है; क्योंकि इसमें मुख्यतः पदार्थों की विवेचना की गई है। वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद ने तो यहाँ तक कहा है कि इन्हीं पदार्थों के ज्ञान से *निःश्रेयस्* अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

"धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।" (१।१।४)

अब ये पदार्थ हैं क्या चीज़? 'पदार्थ' दो शब्दों से बना है, पद और *अर्थ*। अतः पदार्थ का मानी निकलता है *वह वस्तु जिसके लिये शब्द प्रयुक्त होता है*। जिस वस्तु को हम कोई नाम दे सकें वही पदार्थ है। और, नाम उसी वस्तु को दिया जा सकता है, जिसे हम जानते हैं। और, जानी वही वस्तु जा सकती है जिसकी सत्ता हो।

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि पदार्थ वह वस्तु है जिसमें ये तीन लक्षण पाये जायँ—

(१) अस्तित्व (Existence)।

(२) ज्ञेयत्व (Knowability)।

(३) अभिधेयत्व (Namability)।

अतएव प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं—

"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि"

—पदार्थधर्मसंग्रह

अर्थात् छओं पदार्थों के अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञे[illegible] ये तीनों [illegible] ल[illegible] हैं।

छः पदार्थ—कणाद ने निम्नलिखित छः पदार्थों का निर्देश किया है—

(१) द्रव्य (Substance)

(२) गुण (Quality)

(३) कर्म (Action)

(४) सामान्य (Generality)

(५) विशेष (Particularity)

(६) समवाय (Inherence)

कणाद का उद्देश्य यह है कि जितनी भी वस्तुओं का होना हम जानते हैं उन्हें पृथक्-पृथक् श्रेणियों में बाँट दें। यह वर्गीकरण (Classification) ऐसा पूर्ण (Complete) हो कि कोई भी वस्तु छूटने न पावे अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ किसी न-किसी श्रेणी के अन्तर्गत आ ही जायँ।

कणाद और उनके भाष्यकार **प्रशस्तपादाचार्य** ने उपर्युक्त षट् पदार्थों का ही वर्णन किया है। किन्तु उनके अनुयायियों ने एक पदार्थ और जोड़ दिया है। वह है **अभाव**। इस तरह **वैशेपिक दर्शन** में कुल मिलाकर सात पदार्थ माने जाते हैं।

श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य, शिवादित्य प्रभृति न्याय वैशेपिकाचार्य '*अभाव*' के पदार्थत्व के पक्ष में यह युक्ति देते हैं कि जिस प्रकार किसी स्थान में घट का होना हम जानते हैं उसी प्रकार किसी स्थान में घट का न होना भी तो जानते हैं। यह 'न होना' वा अभाव भी ज्ञान का विषय है, अतः पदार्थ है।

यह अभाव उपर्युक्त छः पदार्थों में किसी के अन्तर्गत नहीं आ सकता। अतएव इसे पृथक् पदार्थ मानना पड़ेगा।

सातवाँ पदार्थ—अब तो समस्त न्याय-वैशेपिक में सात पदार्थों का होना निर्विवाद-सा हो गया है। **शिवादित्य** ने अपने ग्रन्थ का नाम ही **सप्तपदार्थी** रक्खा है। इसी तरह **अन्नम्भट्ट** ने **तर्कसंग्रह** के पहले ही वाक्य में सात पदार्थों के नाम गिनाये हैं।* **भाषापरिच्छेद, सिद्धान्तमुक्तावली, न्यायकुसुमाञ्जलि** आदि सभी न्याय वैशेपिक ग्रन्थों में सात पदार्थों का वर्णन मिलता है।

* "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः।"

—तर्कसंग्रह।

सप्तपदार्थवादी वैशेषिकगण यह भी दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि सूत्रकार से उनके मत का विरोध नहीं पड़ता। उनका कहना यह है कि **कणाद** ने केवल सत् पदार्थों को लेकर ही वर्गीकरण किया है। उन्होंने *असत्* पदार्थ को जान-बूझकर छोड़ दिया है। अतः जब वे षट् पदार्थों का नाम-निर्देश करते हैं तब उनका अभिप्राय *भाव* पदार्थों से ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने *अभाव* पदार्थ का खण्डन किया है।

वस्तुतः अभाव पदार्थ है या नहीं—यह *पदार्थ* की परिभाषा पर निर्भर करता है। यदि हम पदार्थ से '*सत्, ज्ञेय* और *अभिधेय*' का अर्थ ग्रहण करें तो अभाव पदार्थ नहीं कहला सकता, क्योंकि किसी पदार्थ का न होना ही अभाव है। फिर वह सत् पदार्थ कैसे माना जा सकता है? किन्तु यदि 'पदार्थ' को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें और उससे *ज्ञेयत्व* और *अभिधेयत्व* मात्र का बोध करें तो *अभाव* भी पदार्थ के अन्तर्गत आ जाता है। **शिवादित्य** ने इसी व्यापक अर्थ में पदार्थ की परिभाषा की है—

प्रमितिविषयाः पदार्थाः

—सप्तपदार्थी

जो कुछ भी ज्ञान का विषय हो सकता है, चाहे संसार में उसकी सत्ता भले ही न हो, वह पदार्थ कहलाता है। अतएव दोनों वर्गीकरण अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक हैं।

गौतम और कणाद के पदार्थ में भेद—इस स्थल पर एक शंका उत्पन्न हो सकती है। **गौतम** अपने *न्यायसूत्र* में प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थ गिनाते हैं, और **कणाद** अपने *वैशेषिक सूत्र* में द्रव्य, गुण आदि पदार्थ गिनाते हैं। **गौतम** के अनुसार *सोलह पदार्थ* हैं; **कणाद** के अनुसार *छः पदार्थ* हैं। इन दोनों में किनका मत ठीक माना जाय?

इस शंका की निवृत्ति के लिये यह समझना आवश्यक है कि **गौतम** और **कणाद** ने भिन्न-भिन्न अर्थों में '*पदार्थ*' शब्द का ग्रहण किया है। **कणाद** के पदार्थ *सत्ता-पदार्थ* (Ontological Categories) हैं। अर्थात् जो-जो सत्ताएँ संसार में हैं वे या तो *द्रव्य*-कोटि में आयेंगी या *गुण*-कोटि में या *कर्म*-कोटि में अथवा *सामान्य, विशेष* या *समवाय*—इनमें किसी एक कोटि में। ये छः प्रकार की मूल सत्ताएँ (Fundamental entities) षट् पदार्थ हैं। **गौतम** के पदार्थ प्रमाण शास्त्र के विवेच्य विषय (Epistemological Categories) हैं। शुद्ध ज्ञान (Right Knowledge) की समीक्षा के लिये किन-किन विषयों का जानना आवश्यक है, यही बतलाना **गौतम** का उद्देश्य है। अतः **गौतम** और **कणाद** के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। अतएव दोनों के पदार्थों की नामावली तथा संख्या में भेद होते हुए भी परस्पर-विरोध नहीं है।

---

* "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः" —तर्कसंग्रह

द्रव्य

[द्रव्य के लक्षण और प्रभेद—क्या तम भी द्रव्य माना जाय ?]

द्रव्य के लक्षण और प्रभेद—द्रव्य का लक्षण है—

"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"

—वै० सू० (१।१।१५)

जो पदार्थ किसी गुण या क्रिया का आधार हो, उसे द्रव्य जानना चाहिये। *क्रिया* और *गुण* द्रव्य ही में समवेत रह सकते हैं। अतएव द्रव्य उनका समवायिकारण कहलाता है।

द्रव्य नौ हैं—

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"

—१।१।५

१ पृथ्वी (Earth)

२ जल (Water)

३ तेज (Fire)

४ वायु (Air)

५ आकाश (Ether)

६ काल (Time)

७ दिक् (Space)

८ आत्मा (Self)

९ मन (Mind)

इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन—ये पाँच द्रव्य ऐसे हैं जिनमें गुण और क्रिया दोनों रहते हैं। किन्तु अवशिष्ट द्रव्य—आकाश, काल, दिक् और आत्मा—केवल गुणवाले हैं। अर्थात् सभी द्रव्य गुणवान् हैं, किन्तु उनमें पूर्वोक्त पाँच सक्रिय और शेषोक्त चार (*आकाश, काल, दिक् और आत्मा*) निष्क्रिय हैं।

क्या छाया भी द्रव्य मानी जाय ?—छाया या अन्धकार द्रव्य माना जा सकता है या नहीं—इस विषय को लेकर मनोरंजक प्रश्न उठाया गया है। **कुमारिल** भट्ट प्रभृति **मीमांसकों** का मत है कि छाया या अन्धकार में गुण (कृष्ण वर्ण) और क्रिया (गति) दोनों देखने में आते हैं। इसलिये उसे द्रव्य मानना ही पड़ेगा। और, छाया उक्त द्रव्यों के अन्तर्गत नहीं आ सकती, क्योंकि वह गन्ध का अभाव होने से पृथ्वी नहीं है, रस का अभाव होने से जल नहीं है, उष्णता का अभाव होने से अग्नि नहीं है, और स्पर्श का अभाव होने से वायु नहीं है। इसी प्रकार वह सक्रिय होने के कारण आकाश, काल, दिक् और आत्मा भी नहीं है। बाकी रहा मन। सो, दृष्टिगोचर होने के कारण, वह मन भी नहीं है। अतएव छाया या अन्धकार को इन द्रव्यों से अतिरिक्त दसवाँ द्रव्य मानना पड़ेगा।

कणाद ने इस आक्षेप का परिहार करने के लिये पहले ही कह रक्खा है—

"द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः"

—वै० सू० (५।२।१९)

अर्थात् तम तेज का अभाव मात्र है। वह द्रव्य, गुण या कर्म नहीं माना जा सकता। यहाँ शंका उठती है कि यदि अन्धकार द्रव्य नहीं है तो फिर उसमें चलने की क्रिया कैसे होती है ? इसके उत्तर में **कणाद** कहते हैं—

"तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च"

—वै० सू० (५।२।२०)

अर्थात् तेज का अवरोध (आवरण) करनेवाला जब कोई द्रव्य चलता है तब हमें जान पड़ता है कि छाया ही चल रही है। अतः अन्धकार में गति की जो प्रतीति होती है वह भ्रममात्र है। गति छाया में नहीं, वस्तु में है। इसलिये तम में जो क्रिया देखने में आती है, वह औपाधिक है—स्वाभाविक नहीं।

इसी मत का समर्थन करते हुए **सिद्धान्तमुक्तावलीकार** कहते हैं कि अन्धकार में जो रूप (काले रंग) की प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतः अन्धकार कोई चीज नहीं है। इसलिये उसका न कुछ रूप है, न गुण। प्रकाश का अभाव होना ही अन्धकार कहलाता है। उसमें जो रूपविशेष दिखाई पड़ता है वह आकाश के नीलत्व की तरह आभासमात्र है, यथार्थ नहीं। अतएव अन्धकार को एक द्रव्यविशेष समझना युक्तिसंगत नहीं है।*

---

* आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनायाः अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ता प्रतीतिस्तु भ्रमरूपा। कर्मवत्ता प्रतीतिरपि आलोकापसारणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। —सिद्धान्तमुक्तावली

पृथ्वी

[पृथ्वी के गुण—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श—कार्यरूप पृथ्वी के भेद—शरीर, इन्द्रिय, विषय—पृथ्वी के परमाणु और कार्य]

पृथ्वी के गुण—पृथ्वी का लक्षण बतलाया गया है—

"रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी"

—(वै० सू० २।१।१)

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चार गुण पाये जाते हैं।

(१) गन्ध—गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है। यह गुण और किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता, केवल पृथ्वी में पाया जाता है।

"व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः।"

—(वै० सू० २।१।२)

अतः जहाँ किसी तरह का गन्ध—सुगन्ध या दुर्गन्ध—पाया जाय, वहाँ पृथ्वी का अस्तित्व समझना चाहिये।

(१) *शंका*—कुछ पार्थिव वस्तुओं में—जैसे फूल या चन्दन में—गन्ध पाया जाता है। किन्तु सभी पार्थिव वस्तुओं में तो गन्ध नहीं पाया जाता। जैसे, साधारण मिट्टी को सूँघने से गन्ध नहीं मालूम होता।

समाधान—पृथ्वी के अणुओं में किसी-न-किसी तरह का गन्ध अवश्य ही वर्त्तमान रहता है। कुछ गन्ध ऐसे होते हैं जो सर्वदा सहज रूप से प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो विशेष अवस्था में परमाणुओं के बिखर जाने पर प्रकट होते हैं। मिट्टी में भी गन्ध होता है। किन्तु वह निहित रूप से रहता है। वर्षा होने पर वह गन्ध स्फुटित रूप से प्रत्यक्ष होता है।

(२) *शंका*—पृथ्वी से भिन्न जल आदि द्रव्यों में भी तो गन्ध पाया जाता है। गुलाबजल में सुगन्ध होता है। सड़े हुए पानी में दुर्गन्ध होता है। वायु का भी सुगन्धित या दुर्गन्धित होना प्रत्यक्ष है। तब गन्ध का आधार केवल पृथ्वी मात्र क्यों माना जाय?

समाधान—जल और वायु में जो सुगन्ध या दुर्गन्ध देखने में आता है वह स्वाभाविक

नहीं, औपाधिक है, अर्थात् जल वा वायु का स्वतः अपना कोई गन्ध नहीं है। जब उसके साथ पृथ्वी के कणों का संयोग होता है तब उन्हीं कणों का गन्ध मालूम होता है। गुलाबजल में पराग के कणों का गन्ध रहता है। पनाले के पानी में कीड़े-मकोड़ों और सड़ी हुई घास-फूस के अणु दुर्गन्ध फैलाते हैं। इसी तरह हवा जब पराग-कणों को उड़ाकर लाती है तब हमें उसमे भीनी-भीनी मँहक मालूम होती है, और जब मल-मूत्र आदि के कणों को लाती है तब वह दुर्गन्धित जान पड़ती है।

(२) रूप—लाल, पीला, नीला आदि भाँति-भाँति के रंग जो दिखलाई पड़ते हैं वे सब पृथ्वी के ही रूप हैं। जहाँ ये रंग दिखाई पड़ें—वहाँ पृथ्वी का अस्तित्व जानना चाहिये।

जल और अग्नि भी रूपवान् हैं, किन्तु उनमें अनेक रंग नहीं होते। शुद्ध जल में केवल एक शुद्ध वर्ण होता है और अग्नि में भी केवल एक भास्वर (चमकीला) रंग रहता है। किन्तु पृथ्वी अनेकरूपा है। उसके अणुओं में विविध भाँति के रंग होते हैं। भिन्न-भिन्न रस-वाले अणुओं के संयोग से रंगबिरंगे फूल-पौधे वगैरह देखने में आते हैं।

शंका—आकाश का नीलापन प्रसिद्ध है। यमुनाजी का जल भी नीला देखने में आता है। तब नीलादि रंगों को केवल पृथ्वी का ही आश्रित क्यों समझा जाय ?

समाधान—आकाश में वस्तुतः कोई रंग नहीं है। वह धूलि-कणों के संयोग से नीला आभासित होता है। जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है तब वह उजला-सा दीख पड़ता है। किन्तु यथार्थतः न उसमें नीलापन है न उजलापन। इसी तरह शुद्ध जल का रंग स्वच्छ स्फटिक-सा होता है, किन्तु जब उसमें पृथ्वी के रंगीन कण मिल जाते हैं तब वह उन्हीं के अनुरूप दिखलाई पड़ता है। अतएव आकाश या जल का नीलापन औपाधिक है—नैसर्गिक नहीं।

(३) रस—खट्टा, मीठा, तीता कड़ुआ आदि सभी तरह के रस पृथ्वी में पाये जाते हैं। जल में केवल एक रस (माधुर्य) पाया जाता है। वायु-आकाश आदि अवशिष्ट द्रव्यों में कोई भी रस नहीं होता। किन्तु पृथ्वी में छओ रस पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न रसवाले पार्थिव कणों के संयोग से नाना प्रकार के स्वादवाले पदार्थ बन जाते हैं।

शंका—अन्न फल, व्यंजनादि में स्वाद होता है। किन्तु पत्थर में क्यों नहीं होता है ? वह भी तो पृथ्वी के ही कणों से बना है। फिर वह निःस्वाद क्यों लगता है ?

समाधान—पत्थर में भी कुछ-न-कुछ स्वाद होता है। जब उसका चूर्ण या भस्म जिह्वा पर रक्खा जाता है तब उसके कणों का स्वाद मालूम होता है। बहुत-से पत्थर तो ऐसे हैं जिन्हें वैद्यगण स्वाद या गन्ध से ही पहचानते हैं। बहुधा गर्भिणी स्त्रियाँ मिट्टी वगैरह खाती हैं, क्योंकि उसमें सोंधापन होता है। पर साधारणतः मिट्टी का स्वाद लोग पसंद नहीं करते। इसीलिये जब

मिट्टी या पत्थर का चूरा मुँह में पड़ जाता है तब उसे थूक देते हैं। यदि मिट्टी या पत्थर में कोई स्वाद नहीं होता तो उसे हवा की तरह यों ही निगल जाते। किन्तु जीभ को जब बुरा स्वाद लगता है तभी तो उसे थूक देते हैं। अथवा अवस्थाविशेष में अच्छा स्वाद लगता है तभी तो उसे खाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टी की सभी चीजों में स्वाद रहता है।

(४) स्पर्श—पार्थिव वस्तुओं को हाथ से छूने पर कोमलता या कठोरता का अनुभव होता है। पृथ्वी को छूने पर न गर्मी मालूम होती है न ठंढापन। जहाँ स्पर्श के द्वारा उष्णता का अनुमान हो वहाँ अग्नि जानना चाहिये। जहाँ स्पर्श के द्वारा शीतलता का अनुमान हो, वहाँ जल जानना चाहिये। किन्तु जिसको छूने पर न उष्णता मालूम हो न शीतलता—उसे पृथ्वी जानना चाहिये। यही शुद्ध पृथ्वी की पहचान है।

शंका—कोई पत्थर छूने से ठंढा मालूम पड़ता है और कोई मिट्टी तपी हुई मालूम होती है। ऐसा क्यों होता है?

समाधान—जिस पत्थर मे जल के कण सन्निहित रहते हैं वह ठंढा मालूम पड़ता है। जिस मिट्टी में अग्नि या तेज का संयोग रहता है वह गर्म मालूम पड़ता है। पृथ्वी अपनी नैसर्गिक अवस्था में न तो ठंढी होती है न गर्म। केवल उपाधि के द्वारा उसमें ठंढापन या गर्मी आती है।

कार्यरूप पृथ्वी के भेद—कार्यरूप पृथ्वी के तीन प्रभेद होते हैं*—

(१) *शरीर* (Body)
(२) *इन्द्रिय* (Sense-organ)
(३) *विषय* (Object)

१ शरीर—

भोगायतनं शरीरम्

जिसके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का भोग करता है, उसे शरीर कहते हैं। शरीर धारण करने पर ही आत्मा को सुखदुःख का भोग हो सकता है। अतः शरीर को भोग का यन्त्र या साधन समझना चाहिये†

* (पृथिवी) त्रिविधा, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणाख्यं। तच्च नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

—तर्कसंग्रह।

† यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनमित्यर्थः।

—तर्कदीपिका।

शरीर दो प्रकार के होते हैं *—

(१) योनिज

(२) अयोनिज

जिस शरीर की उत्पत्ति गर्भाशय में रजवीर्य के संयोग से होती है, उसे '*योनिज*' कहते हैं †। जो शरीर विना रजवीर्य के संयोग हुए ही बन जाता है, उसे '*अयोनिज*' कहते हैं ‡।

योनिज शरीर के दो प्रभेद होते हैं—

(१) जरायुज—जरायु वा गर्भाशय से जिस शरीर का प्रसव होता है वह '*जरायुज*' कहलाता है। जैसे—मनुष्य या पशु का शरीर।

(१) अण्डज—जो शरीर अंडा फोड़कर निकलता है वह '*अण्डज*' कहलाता है। जैसे—मछली या पक्षी का शरीर।

अयोनिज शरीर के तीन प्रभेद होते हैं—

(१) स्वेदज—जो शरीर उष्णता (गर्मी) से उत्पन्न होता है। जैसे—जूँ, खटमल आदि।

(२) उद्भिज—जो पृथ्वी फाड़कर निकलता है। जैसे—लता-वृक्षादि। +

(३) अदृष्टविशेषजन्य—जो शरीर धर्मविशेष से स्वभावतः उत्पन्न होता है। जैसे—मनु प्रभृति अलौकिक देवताओं का शरीर। ×

इस प्रकार उत्पत्ति-भेद से पार्थिव जीवों का शरीर साधारणतः चार प्रकार का होता है—(१) *उद्भिज* (२) *स्वेदज* (३) *अण्डज* (४) *जरायुज*। =

---

* शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। —वै० सू० ४।२।५

† शुक्रशोणितसन्निपातजन्य योनिजम् —प्रशस्तपादभाष्य

‡ अयोनिजञ्च शुक्रशोणितसन्निपातानपेक्षम्। —वै० उ०।४।२।५

\+ उद्भिद्य भूमिं निर्गच्छन्त्युद्भिज्जः स्थावरश्च यः।

उद्भिज्जाः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः। —वाचस्पति।

× अदृष्टविशेषजन्यं मन्वादीनां देवर्षिनारदादीनाञ्च। —तर्ककौमुदी।

= देहश्चतुर्विधो जन्तोरेष उत्पत्तिभेदतः।

नोट—बिना गर्भाधान के शरीरोत्पत्ति होना कैसे संभव है ? इस शंका का समाधान करते हुए न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि गर्भाधान-क्रिया में परमाणुविशेषों का संयोग होने से ही तो शरीर की उत्पत्ति होती है । शुक्रशोणित क्या हैं ? पृथ्वी के परमाणु ही तो हैं । विशेष-विशेष परमाणुओं के मिलने से एक गुणविशेष का परिपाक होता है । ये पाकज परमाणु परस्पर मिलकर शरीररूप में परिणत होने लगते हैं। अतएव शरीरोत्पत्ति यथार्थतः गर्भाधान-क्रिया पर नहीं, किन्तु परमाणुओं के सम्मिश्रण पर निर्भर करती है। इसलिये देहरचना के लिये गर्भाशय अनिवार्य नहीं है । मैथुन-क्रिया के बिना भी शरीरोत्पादन हो सकता है । इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है ।* वेद में भी अङ्गिरा आदि ऋषियों के दृष्टान्त से इस मत की पुष्टि होती है ।†

२ इन्द्रिय—

शरीराश्रयं ज्ञातुरपरोक्षप्रतीतिसाधनं द्रव्यमिन्द्रियम्

—पदार्थधर्मसंग्रह

शरीर में अधिष्ठित वह यन्त्र जिसके द्वारा प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान होता है, '*इन्द्रिय*' कहलाता है । शुद्ध पृथ्वी के परमाणुओं से जो इन्द्रिय बनी है, वह घ्राणेन्द्रिय कहलाती है । इसके द्वारा गन्ध का ज्ञान होता है । यह इन्द्रिय नासिका के अग्रभाग में रहती है और पृथ्वी के विशिष्ट गुण—गन्ध-का ग्रहण करती है ।

३ विषय—

शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त जितनी भी पार्थिव वस्तुएँ संसार में हैं, वे *विषय* कहलाती हैं । ये सब विषय जीव के उपभोग के लिये हैं ।

शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमात्मोपभोगसाधनं द्रव्यं विषयः

मिट्टी, पत्थर, खनिज, फल, फूल, अन्न आदि उपभोग्य विषय हैं ।

---

* अयोनिजपार्थिवशरीराणामुत्पत्तिर्धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्य एव स्वीक्रियते । —तर्ककौमुदी

† अङ्गारेभ्यः सम्भवदङ्गिराः इत्यन्वर्थसंज्ञायाः आगमेऽपि दर्शनात् —रत्नावली

पृथ्वी के परमाणु और काय—पृथ्वी के दो रूप हैं—

(१) परमाणु रूप (Atom)

(२) कार्य रूप (Product)

परमाणु-स्वरूप में पृथ्वी नित्य है, किन्तु कार्य-रूप में अनित्य है। घट-पट आदि भिन्न-भिन्न पार्थिव मूर्त्तियाँ बनाई-बिगाड़ी जा सकती हैं। उनकी उत्पत्ति होती है और विनाश भी होता है। अर्थात् वे आदि और सान्त हैं। किन्तु, जिन पार्थिव परमाणुओं से उनकी रचना हुई है वे अनादि और अनन्त हैं। उनकी न तो कभी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश होगा। वे सर्वदा शाश्वत रूप से विद्यमान रहते हैं। हम सावयव मूर्त्ति की रचना कर सकते हैं, किन्तु मूलभूत परमाणुओं की सृष्टि नहीं कर सकते। इसी प्रकार घटादि द्रव्यों का विनाश हो सकता है, किन्तु परमाणुओं का नहीं। परमाणुओं का केवल संयोग-वियोग हो सकता है, सृष्टि संहार नहीं। अतएव परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य है, किन्तु पृथ्वी के कार्यरूप द्रव्य अनित्य हैं।*

---

* (पृथिवी) द्विविधा। नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। —तर्कसंग्रह

जल

[जल का लक्षण—रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्निग्धत्व—जल के कारण-कार्य रूप]

जल—जल का लक्षण है—

> "रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः"
>
> —वै०, २।१।२

जल में रूप, रस, और स्पर्श—ये गुण मौजूद हैं। अर्थात् जल देखा जा सकता है, चखा जा सकता है, और छुआ जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसमें द्रवत्व और स्निग्धत्व भी है।

> "वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।
> स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥
>
> (भाषापरिच्छेद)

(१) रूप—जल का स्वाभाविक रूप शुक्ल है। किन्तु उपाधि के संयोग से उसका रूपान्तर भी देखने में आता है। समुद्र के पानी में जो नीलापन देखने में आता है वह स्वाभाविक नहीं—औपाधिक है। विशुद्ध अर्थात् उपाधि-रहित जल सर्वदा स्वच्छ होता है।

(२) रस—जल का स्वाभाविक रस मधुर है। नीबू के रस में जो खट्टापन होता है या नीम के रस में जो तीतापन होता है, वह पार्थिव कणों के संयोग के कारण है। बिना उपाधि के योग से जल खट्टा, तीता या कड़ुआ नहीं हो सकता।

(३) स्पर्श—जल का स्वाभाविक स्पर्श शीतल होता है। जबतक सूर्य-किरण या अग्नि का संयोग उसमें नहीं होता तब तक वह गर्म नहीं हो सकता। उपाधि का संयोग हट जाने पर जल फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था (शीतलता) में आ जायगा। अतएव उष्ण जल में जो उष्णता रहती है वह जल की नहीं, किन्तु उपाधि-रूप तेज की होती है।

यहाँ एक शंका उठती है कि जल में चीनी या मधु की तरह मिठास कहाँ मालूम होती है ? यदि जल में स्वतः माधुर्य होता तो फिर शरबत बनाने के लिये उसमें चीनी क्यों मिलानी पड़ती ?

इसके उत्तर में **न्यायकन्दलीकार** (श्रीधराचार्य) कहते हैं कि माधुर्यगुण आपेक्षिक होता है। किसी वस्तु में ज्यादा मिठास होती है, किसी में कम। जल में माधुर्य की मात्रा न्यून रहती है, अधिक नहीं। इसीसे वह गुड़ की तरह मीठा नहीं मालूम पड़ता। किन्तु किसी-न-किसी अंश में माधुर्य तो मानना ही पड़ेगा ; क्योंकि जल तिक्त, कटु, अम्ल, लवण और कषाय इन रसों में किसी के अन्तर्गत नहीं आता।

"तासु (अप्सु) न मधुरो रसो गुडादिवदप्रतिभासनत्वात् इति चेत् न कटुकषायतिक्त-लवणाम्लविलक्षणस्य रसस्य संवेदनात्, गुडादिवदप्रतिभासनं तु माधुर्यातिशयाभावात्"।

—न्यायकन्दली

(४) **द्रवत्व**—द्रवत्व अर्थात् प्रवाहशीलता (fluidity) जल का स्वाभाविक गुण है। पृथ्वी ठोस या कठिन होती है, किन्तु जल तरल होता है।

यहाँ एक शंका उठती है। बर्फ और ओले तो ठोस होते हैं, तब उन्हें जल कैसे कहा जा सकता है ? और यदि उन्हें जल माना जाय तो फिर उनमें द्रवत्व कहाँ है ?

इस प्रसङ्ग में **मुक्तावलीकार** कहते हैं कि बर्फ और ओले पार्थिव नहीं माने जा सकते ; क्योंकि जरा-सी गर्मी पाते ही उनका द्रवत्व वा जलत्व प्रकट हो जाता है। यह द्रवत्व किसी अदृष्ट शक्ति से अवरुद्ध हो जाने के कारण जो काठिन्य की प्रतीति होती थी उसे भ्रान्तिमात्र समझना चाहिये।

"न च हिमकरकयोः कठिनत्वात् पार्थिवत्वमिति वाच्यम्। ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। अदृष्टविशेषेण द्रवत्वप्रतिरोधात् करकायाः काठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्।

—सिद्धान्तमुक्तावली

शंका—कुछ पार्थिव वस्तुएँ भी ऐसी होती हैं जो पिघलकर बहने लगती हैं। जैसे—घी, मोम वगैरह। इनमें जलत्व नहीं होते हुए भी द्रवत्व देखने में आता है। फिर द्रवत्व केवल जल का ही लक्षण क्यों माना जाय ?

समाधान—पूर्वोक्त शंका के समाधान में कणाद ने दो सूत्र कहे हैं—

"सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्"
—वै० सू० २।१।६

"त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्"
—वै० सू० २।१।७

अर्थात् घी, मोम और लाख वगैरह स्वतः द्रव नहीं होते, किन्तु अग्नि का संयोग पाकर पिघलते हैं। अतः उनका द्रवत्व स्वाभाविक नहीं, किन्तु विशेष कारण-प्रसूत होता है। इसी तरह टिन, सीसा, लोहा, चाँदी, सोना आदि धातुओं में भी स्वाभाविक द्रवत्व नहीं रहता। आग की कड़ी गर्मी पाकर ही उनमें द्रवत्व आता है। अतः इन पार्थिव वस्तुओं के द्रवत्व में और जल के द्रवत्व में भेद है। ये वस्तुएँ द्रव होने के लिये अग्निसंयोग की अपेक्षा रखती हैं। किन्तु, जल में स्वाभाविक द्रवत्व है। वह किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता। यह निरपेक्ष द्रवत्व केवल जल ही में पाया जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। बर्फ भी तो गर्मी पाकर ही पिघलती है। फिर उपर्युक्त पार्थिव वस्तुओं से उसमें भेद क्या रहा? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि बर्फ के जल का घनत्व स्वाभाविक नहीं, किन्तु औपाधिक है। जब ताप के संयोग से वह उपाधि दूर हो जाती है तब बर्फ का जल अपने स्वाभाविक (द्रव) रूप में आ जाता है। किन्तु लाख और टिन वगैरह का घनत्व स्वाभाविक होता है—औपाधिक नहीं। उनका कारण-विशेष से द्रवीभाव होता है। किन्तु बर्फ के जल का द्रवीभाव नहीं होता। जल में स्वभावतः पहले ही से द्रवत्व रहता है। यही दोनों में अन्तर है।

दूध और तेल स्वभावतः द्रव होते हैं। इन्हें पार्थिव माना जाय या जलीय? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दूध और तेल में पृथ्वी का थोड़ा और जल का बहुत बड़ा अंश रहता है। इसलिये पार्थिव कणों के साथ संयुक्त जल का समवेत धर्म द्रवत्व देखने में आता है।

(४) **स्निग्धत्व**—स्निग्धत्व या चिकनाहट भी जल का खास लक्षण है। जहाँ स्निग्धता देखने में आवे वहाँ जल का अस्तित्व समझना चाहिये। मक्खन और चर्बी वगैरह में जो स्निग्धता देखने में आती है वह जलीय अंश के कारण ही है। हरे-भरे वृक्षों की चिकनाहट भी जल के कारण होती है। इसके विपरीत पृथ्वी में रूक्षता रहती है। इसीलिये शुष्क ईंट-पत्थर और सूखी लकड़ी में स्निग्धता का अभाव देखने में आता है।

जल के कारण-कार्य रूप—पृथ्वी की तरह जल भी परमाणु-रूप में नित्य और कार्य-रूप में अनित्य है*। कार्यरूपी जल के भी तीन प्रभेद होते हैं—

(१) शरीर

(२) इन्द्रिय

(३) विषय

जलीय शरीर अयोनिज होता है। इसका अस्तित्व वरुणलोक में माना गया है। जलीय परमाणुओं से जो इन्द्रिय बनी है वह *रसनेन्द्रिय* कहलाती है। यह जिह्वा के अग्रभाग में रहती है और रस या स्वाद का ग्रहण करती है। नदी, समुद्र आदि जल के *विषय* हैं।

---

* ता, (आप,) द्विविधा,। नित्या, अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा।

—तर्कसंग्रह

तेज

[तेज के गुण—रूप, स्पर्श—तेज के परमाणु और कार्यरूप]

तेज के गुण— तेज का लक्षण है—

"तेजो रूपस्पर्शवत्"

(२।१।३)

अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण होते हैं। शुद्ध अग्नि का स्पर्श *उष्ण* और रूप *भास्वर* (चमकीला) होता है।

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्

(भाषापरिच्छेद)

(१) स्पर्श—अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है। अग्नि के अतिरिक्त और कोई पदार्थ उष्ण नहीं होता। अथवा यों कहिये कि जहाँ उष्णता का अनुभव हो वहाँ अग्नि का अस्तित्व समझ लीजिये। जल शीतल होता है। पृथ्वी न शीतल होती है, न उष्ण। वायु का स्पर्श इन सभीसे न्यारा होता है। केवल अग्निमात्र में उष्णता होती है। यही अग्नि की विलक्षणता है।

(२) रूप—अग्नि का स्वरूप दीप्तिमान् शुक्ल है। जल और पृथ्वी में भी शुक्लत्व पाया जाता है। किन्तु उनमें दीप्ति अर्थात् स्वतः प्रकाशन की शक्ति नहीं पाई जाती। यह गुण केवल अग्नि में ही पाया जाता है। अग्नि स्वतः प्रकाशित होकर औरों को भी प्रकाशित करता है। यही अग्नि की विशेषता है।

नोट—(१) आग की ज्वाला में कभी-कभी लाल-पीला आदि जो रंग देखने में आते हैं- वे पृथ्वी-कणों के संयोग हैं। आतिशबाजी में जो हरी या नीली आग देखने में आती है वह उपाधि के कारण वैसी दिखाई पड़ती है। ये रंग वस्तुतः अग्नि के नहीं, किन्तु संयुक्त पार्थिवकणों के होते हैं। शुद्ध अग्नि का स्वरूप प्रदीपप्रकाशवत् या चाँदनी के समान शुभ्र रहता है।

(२) तपी हुई धरती में, खौलते हुए पानी में और जेठ की लू में हमें जो उष्णता मालूम होती है, वह क्रमशः पृथ्वी, जल और वायु की उष्णता नहीं है। किन्तु उनमें संयुक्त अग्नि की ही उष्णता है। अतः अग्नि से भिन्न जिस किसी द्रव्य में उष्णता प्रतीत हो उसे औपाधिक जानना चाहिये—स्वाभाविक नहीं।

तेज के परमाणु और कार्यरूप—अग्नि भी परमाणुरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय और विषयभेद से कार्यरूप अग्नि तीन प्रकार से होते हैं। आग्नेय शरीर अयोनिज होता है। इसका अस्तित्व सूर्यलोक में माना गया है। तेज-परमाणुओं से जो इन्द्रिय बनी है उसे चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं। इसके द्वारा रूप का ज्ञान होता है।

आग्नेय विषय चार प्रकार के माने गये हैं—

(१) *भौम* (२) *दिव्य* (३) *औदर्य* (४) *आकरज*।

(१) भौम—अर्थात् काष्ठेन्धनजन्य अग्नि, जिसके द्वारा हम पकाते हैं।

(२) दिव्य—अर्थात् अनिन्धनप्रसूत अग्नि, यथा—सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि।

(३) औदर्य—अर्थात् जठरानल, जिसके द्वारा आमाशय मे भोजन के रस का परिपाक होता है।

(४) आकरज—वह अग्नि जो खान मे पाया जाता है। जैसे—सोना।

नोट—वैशेषिक दर्शन में सोने को पार्थिव नहीं मानकर आग्नेय माना गया है। यह बात असङ्गत-सी प्रतीत होती है। किन्तु वैशेषिककार इसके पक्ष में कई युक्तियाँ देते हैं—

(क) पार्थिव वस्तुएँ आग में जलाई जा सकती हैं, किन्तु सोना नहीं जल सकता। वह ताप से घी वगैरह की तरह पिघल तो जाता है, किन्तु उनकी तरह जलता नहीं। भीषण-से-भीषण तापमान में भी उसके द्रवीभूत कण अक्षुण्ण रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वर्ण के कण स्वतः आग्नेय होते हैं। तभी तो अग्नि के द्वारा उसका रूप विकृत नहीं होता।

(ख) यदि सोना आग्नेय है तो उसका स्पर्श उष्ण क्यों नहीं होता और वह स्वतःप्रकाश्य क्यों नहीं है ? इसके उत्तर में वैशेषिकगण कहते हैं कि सोने के साथ जो पृथ्वी के परमाणु मिले रहते हैं उन्हीं के कारण सोने में पार्थिवविषयक गुण प्रतीत होता है । अर्थात् उसमें गन्ध, रस और अशीतोष्ण स्पर्श मालूम होता है । सोना आग की तरह स्वतःप्रकाश्य नहीं होता । इसका कारण यह है कि इसका रूप आवरण के कारण निहित रहता है ।

शंकरमिश्र अपने वैशेषिकसूत्रोपस्कार में रूप प्रकाश) तथा स्पर्श (उष्णता) की मात्रा के अनुसार तेज के ये भेद करते हैं—

(१) जिसमें प्रकाश और उष्णता—दोनों देखने में आते हैं । जैसे—सूर्य का तेज, दीप की ज्वाला ।

(२) जिसमें प्रकाश प्रत्यक्ष रहता है, किन्तु उष्णता नहीं । जैसे—चन्द्रमा का प्रकाश ।

(३) जिसमें उष्णता रहती है, किन्तु प्रकाश नहीं । जैसे—जेठ की गर्मी या तपी हुई कड़ाही ।

(४) जिसमें प्रकाश और उष्णता—दोनों अप्रकट रहते हैं । जैसे—नेत्र का तेज ।

नोट—चाँदनी ठंढी मालूम होती है । इसका कारण यह है कि तेज के साथ-साथ उसमें जल के परमाणु भी विद्यमान रहते हैं । इसी तरह सोना आदि भी उपाधि-युक्त होने के कारण गर्म नहीं लगता ।

वायु

[वायु का लक्षण—वायु के परमाणु और कार्यरूप]

वायु का लक्षण—वायु का लक्षण बतलाया गया है—

"स्पर्शवान् वायुः"
—वै० सू० (२।१।४)

वायु अदृश्य पदार्थ है। अदृश्य पदार्थ केवल लिंग वा लक्षण ही के द्वारा जाने जा सकते हैं। वायु का लिंग है स्पर्श। अर्थात् वायु का अस्तित्व केवल स्पर्श के द्वारा जाना जाता है।

"स्पर्शश्च वायोः"
(२।१।८)

पृथ्वी आदि द्रव्य दृश्य और स्पृश्य दोनों होते हैं। उन्हें छूने से जो सत्ता मालूम होती है वही देखने से भी जानी जाती है। किन्तु वायु में यह बात नहीं। वायु का कुछ रूप-रंग नहीं होता। यह आँख से नहीं देखा जा सकता। केवल स्पर्श के आधार पर हम उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

किन्तु यह स्पर्श भी विलक्षण होता है। जिस तरह हम मिट्टी या पानी को हाथ से पकड़ सकते हैं उस तरह वायु को नहीं पकड़ सकते। हाँ, वायु के चलने से हमारे शरीर में स्पर्श का अनुभव होता है। इस स्पर्श को न तो हम सदा शीतल कह सकते हैं; न सदा उष्ण। हाँ, जब जल का संयोग रहता है तब यह शीतल लगता है, जब अग्नि का संयोग रहता है तब यह उष्ण लगता है। किन्तु यह स्वतः दोनों से न्यारा होता है। वायु का स्पर्श पृथ्वी की तरह भी

नहीं होता, क्योंकि पार्थिव वस्तुओं के स्पर्श में जो मृदुता या कठोरता का अनुभव होता है, वह वायु के स्पर्श मे नहीं। अत जितने पदार्थ हैं, इन सभी के स्पर्श से वायु का स्पर्श भिन्न होता है।

वायु का कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।

"वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावात् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते।"

(२।१।१५)

अत. वायु को '*अदृष्टलिंग*' कहते हैं।

"न च दृष्टानां स्पर्श इति अदृष्टलिंगो वायुः।"

(२।१।१०)

वायु में *स्पर्श* और *गति*—ये दोनों पाये जाते हैं। स्पर्श *गुण* है, और गति *क्रिया* है। किन्तु, गुण और क्रिया—ये दोनों द्रव्य ही मे रहते हैं। गुण (स्पर्श) और क्रिया (गति) का आश्रय होने से वायु द्रव्य है। द्रव्य के अतिरिक्त गुण-कर्म आदि सभी पदार्थ द्रव्याश्रित रहते हैं। किन्तु, वायु किसी द्रव्य का आश्रित नहीं है। इससे भी उसका द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

"अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्"

(२।१।११)

"क्रियावत्त्वाद्गुणवत्त्वाच्च"

(२।१।१२)

किन्तु, वायु का आश्रय आकाश को मानें तो क्या हर्ज है? इसका समाधान आगे आकाश के प्रकरण में देखिये।

वायु आकाश की तरह एक ही क्यों नहीं माना जाय? इस प्रश्न के उत्तर मे कणाद कहते हैं कि प्रतिकूल दिशाओं से बहनेवाले वायुओं का पारस्परिक संघर्ष उनकी अनेकता का सूचक है।

"वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम्"

(२।१।१४)

यदि वायु एक ही रहता तो आपस मे टकराता कैसे? और वायु आपस मे टकराता है। यह बात इससे सिद्ध है कि बहुधा तृण आदि हवा में ऊपर उड़ते हुए देखे जाते हैं। किन्तु वायु का स्वभाव है *तिर्यग्गमन* अर्थात् तिरछा चलना। तब तृण वायु के वेग से ऊपर कैसे जाते हैं? उन्हें ऊपर पहुँचानेवाला तो वायु ही है। अत वायु का ऊर्ध्वगमन मानना ही पड़ेगा। और, यह ऊर्ध्वगमन तभी हो सकता है जब वायु के दो झकोरे प्रतिकूल दिशाओं से समान वेग के साथ बहते हों। अत पारस्परिक प्रतिक्रिया से वायु का अनेकत्व सिद्ध होता है।

वायु के परमाणु और कार्य-रूप—वायु भी परमाणु-रूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य है। कार्यरूप वायु चार प्रकार का माना गया है—

(१) शरीर, (२) इन्द्रिय, (३) विषय, (४) प्राण।

वायवीय शरीर जलीय और आग्नेय शरीरों की तरह अयोनिज और पार्थिव परमाणुओं के संयोग से विषयोपभोग में समर्थ होता है। वायवीय परमाणुओं से बनी इन्द्रिय त्वचा कहलाती है जिसके द्वारा प्राणिमात्र को स्पर्श का ज्ञान होता है। *हवा, आँधी, झकड़* आदि वायु के विषय हैं। इन्हें हम देख तो नहीं सकते; किन्तु शरीर में लगने से, पत्तों के हिलने और सनसनाहट का शब्द होने से इनकी सूचना मिलती है। तिरछा बहना इनका स्वभाव है। इन्हीं के वेग से मेघ चलते हैं। ये हलकी वस्तुओं को उड़ाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं।

प्राणवायु शरीर के अन्तःस्थित रस, धातु और मल आदि का संचालन करता है। है तो यह एक ही, किन्तु क्रिया-भेद से इसकी भिन्न-भिन्न पाँच संज्ञाएँ हैं *।

(१) **अपान वायु**—जो नीचे की ओर जाता है। इसके सहारे मलमूत्र का विसर्जन होता है।

(२) **व्यान वायु**—जो चतुर्दिक्षु व्याप्त होता है। इसके द्वारा भोजन का रस अँतड़ियों में प्रवाहित होता है।

(३) **उदान वायु**—जो ऊपर की ओर जाता है। यह भोजन के रस को ऊपर ले जाता है।

(४) **प्राण वायु**—जिसको लेकर नाक और मुँह में श्वासक्रिया होती है।

(५) **समान वायु**—जो पाकस्थली में जठरानल का समानरूप से वितरण करता है

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के प्रदेश क्रमशः हृदय, मलद्वार, नाभि, कण्ठ और सर्वावयव माने गये हैं।

> "*हृदि प्राणो गुदेऽपानः, समानो नाभिसंस्थितः।*
> *उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।*"

इनके कार्य क्रमशः इस प्रकार कहे गये हैं—

> "*अन्नप्रवेशनं मूत्राद्युत्सर्गोऽन्नादिपाचनम्।*
> *भाषणादि निमेषाश्च तद्व्यापाराः क्रमादमी।*"

---

* प्राणस्तु शरीराभ्यन्तरचारी वायुः। स एव क्रियाभेदादपानादि संज्ञां लभते। —'सप्तपदार्थी'

आकाश

[आकाश का गुण-शब्द-आकाश की एकता]

आकाश का गुण—महर्षि कणाद ने आकाश के सम्बन्ध में यह सूत्र कहा है—

'ते आकाशे न विद्यन्ते'

—वै० सू० (२।१।५)

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इनमें कोई भी गुण आकाश में नहीं होता। आकाश न देखा जा सकता है, न छुआ जा सकता है—चखना और सूँघना तो दूर रहे।

शंका—आकाश कहीं नीला दीख पड़ता है, कहीं उजला। फिर आकाश को रूपवान् क्यों नहीं मानेंगे ?

समाधान—दूरस्थ आकाश में जो नीलिमा प्रतीत होती है वह छाया के कारण है। इसी तरह शुक्लता सूर्य के तेज की रहती है। शुद्ध आकाश का कोई रूप-रंग नहीं होता। जैसे निकट का आकाश बिलकुल शून्य और निराकार है, उसी प्रकार दूरवर्ती आकाश को भी जानना चाहिये।

जब आकाश बिलकुल अदृश्य पदार्थ है तब वह जाना कैसे जाता है ? अर्थात् उसका लिंग (चिह्न) क्या है ? इसके उत्तर में वैशेषिक कहता है—

"शब्दगुणकमाकाशम्"

(तर्कसंग्रह)

अर्थात् आकाश का विशिष्ट गुण है शब्द।

आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।

(भाषा-परिच्छेद)

शब्द आकाश ही का गुण है. इसका क्या प्रमाण ? यहाँ वैशेषिककार परिशेषानुमान का आश्रय लेते हैं। अर्थात् शब्द पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का गुण नहीं माना जा सकता। इसी तरह वह दिक्, काल, आत्मा और मन का भी गुण नहीं कहा जा सकता। अतएव जो अवशिष्ट द्रव्य (*आकाश*) बच जाता है, उसी को शब्द का अधिकरण मानना पड़ेगा।

इसको सिद्ध करने के लिये कणाद निम्नलिखित युक्ति देते हैं—

शब्द स्पर्शवान् द्रव्यों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) का गुण नहीं माना जा सकता। जो गुण कारण मे नहीं रहता वह कार्य में नहीं आ सकता।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।
वै० सू० (२।१।२४)

उपादानभूत मृत्तिकादि मे जो गुण रहता है वही कार्यरूप घट मे आ सकता है, दूसरा नहीं। अब वंशी के शब्द को लीजिये। यह किसका गुण है ? यदि कहिये कि वंशी का, तो उसके उपादान कारण बाँस में भी यह गुण रहना चाहिये था। किन्तु बाँस में तो यह शब्द नहीं था। फिर यह कहाँ से आया ? यदि मृत्तिका निराकार होती तो साकार घट कैसे बन सकता था ? यदि अवयव (बाँस) नि.शब्द है तो अवयवी (वंशी) मे शब्द कहाँ से आवेगा ? क्योंकि अवयव कारण का सजातीय गुण ही कार्य मे प्रकट होता है। उससे भिन्न गुण का— कार्यान्तर का प्रादुर्भाव नहीं होता। अतएव सिद्ध होता है कि अस्पृश्य शब्द वंशी या और किसी स्पृश्य वस्तु का गुण नहीं है।

"कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः"
(२।१।२५)

उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर मिश्र (उपस्कार में) कहते हैं—"यदि शब्द किसी स्पर्शवान् द्रव्य (जैसे वंशी) का गुण रहता तो उसी वस्तु से कभी मन्द और कभी तीव्र शब्द कैसे सुनाई पड़ता ? किसी वस्तु का जो गुण रहता है वह एक ही तरह से प्रकट होता है न कि तरह-तरह से। इससे भी जान पड़ता है कि शब्द स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं।

इसी मत का समर्थन करते हुए प्रशस्तपादाचार्य अपने भाष्य मे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं—

शब्दः प्रत्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वात् अयावत्द्रव्यभावित्वात् आश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः

(पदार्थधर्मसंग्रह)

अर्थात् शब्द स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं है। क्योंकि—

(१) जिस वस्तु से (जैसे—शंख से) शब्द प्रत्यक्ष सुनाई पड़ता है, उसके समवायि कारण (जैसे—अस्थि) में वह गुण नहीं था। अतः उस वस्तु का वह गुण नहीं हो सकता।

(२) यदि शब्द शंख का गुण रहता तो जब तक शंख देखने में आता तबतक शब्द की भी उपलब्धि होती ; किन्तु ऐसा नहीं होता।

(३) यदि शब्द शंख का गुण होता तो उसी स्थान में रहता। किन्तु, शब्द हमारे कर्णकुहर में सुनाई पड़ता है जहाँ शंख का अस्तित्व नहीं है।

इन बातों से सिद्ध होता है कि शब्द का आधार-स्वरूप कोई ऐसा द्रव्य है जो स्पर्श और रूप से हीन है।

तब क्या शब्द को आत्मा या मन का गुण मान सकते हैं ? इसके उत्तर में कणाद का सूत्र है—

"परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः"

(२।१।२६)

अर्थात् शब्द आत्मा या मन का गुण नहीं माना जा सकता। क्योंकि—

(१) *परत्रसमवायात्*—यदि शब्द सुखदुःख, इच्छा, ज्ञान की तरह आत्मा या मन का गुण रहता तो *'मैं सुखी हूँ' 'मैं जानता हूँ'* इत्यादि की तरह *'मैं बज रहा हूँ'* (मुझी से शब्द ध्वनित हो रहा है) ऐसा बोध होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः शब्द आत्मा या मन में समवेत नहीं है इसका समवाय-सम्बन्ध अन्यत्र है।

(२) *प्रत्यक्षत्वात्*—शब्द (रूप, रस, के समान) बाह्येन्द्रियग्राह्य है। यदि यह आत्मा या मन का गुण होता तो इसके लिये बाह्येन्द्रिय (श्रोत्र) की अपेक्षा नहीं रहती और बहरा मनुष्य भी सुख-दुःख के समान ही शब्द का भी अनुभव करता। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः शब्द आत्मा या मन का गुण नहीं है।

इस सम्बन्ध में प्रशस्तपाद का भाष्य यों है—

"बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् आत्मान्तरग्राह्यत्वात् आत्मन्यसमवायात् अहङ्कारेणविभक्तग्रहणाच नात्मगुणः"

(पदार्थधर्मसंग्रह)

अर्थात् शब्द आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। क्योंकि—

(१) वह बाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

(२) वह अनेक व्यक्तियों को सुनाई पड़ता है। यदि वह सुख-दुःख की तरह आत्मा का गुण रहता तो एक आत्मा का शब्द दूसरा आत्मा नहीं जान सकता। किन्तु एक ही शब्द भिन्न-भिन्न आत्माओं को सुनाई देता है।

(३) आत्मा के साथ उसका समवाय-सम्बन्ध नहीं है।

(४) शब्द का ग्रहण अहम् (मैं) के ज्ञान से सर्वथा पृथक् होता है।

इसी प्रकार शब्द दिक् और काल का भी गुण नहीं माना जा सकता। क्योंकि वे बाह्येन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। अब एक ही द्रव्य अवशिष्ट बचता है और वह है *आकाश*। अतः शब्द को उसी का गुण मानना पड़ेगा।

"विशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य"

वै० सू० (२।१।२७)

आकाश की एकता—आकाश गुणवान् (शब्दवान्) होने के कारण द्रव्य है और निरवयव तथा निरपेक्ष होने के कारण नित्य है।

आकाश की एकता सिद्ध करने के लिये कणाद निम्नलिखित युक्ति बतलाते हैं—

"शब्दलिङ्गा विशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च।"

(२।१।३०)

अर्थात् आकाश का लिंग, शब्द, सर्वत्र समान ही पाया जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की तरह उसमें प्रकार-भेद नहीं पाये जाते। शब्द की ध्वनियों में जो भेद मालूम पड़ता है वह निमित्त कारण के भेद से है। किन्तु आकाश-भेद से शब्द-भेद नहीं होता। अतः आकाश अनेक नहीं, एक ही है।

आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापक और अनन्त है। घटाकाश, मठाकाश आदि केवल औपाधिक भेद हैं।

"आकाशस्तु घटाकाशादिभेदभिन्नोऽनन्त एव।
आकाशादित्रयं तु वस्तुतः एकमेव उपाधिभेदान्नानाभूतम्"

—सप्तपदार्थी

पाश्चात्य विज्ञान शब्द को वायु-कम्प-जनित कार्य मानता है। किन्तु वैशेषिक दर्शन शब्द को वायु का आश्रित नहीं समझता; क्योंकि वायु का विशिष्ट गुण है स्पर्श। यह गुण यावद्द्रव्य-भावी है। अर्थात् जबतक वायु रहेगा तबतक स्पर्श भी उसके साथ रहेगा। यदि शब्द भी वायु का गुण रहता तो वह भी यावद्द्रव्यभावी होता। किन्तु ऐसा नहीं देखने में आता। अर्थात् वायु रहते हुए भी शब्द नष्ट हो जाता है। इसलिये शब्द वायु का गुण नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह कि सभी शब्द आकाश में विलीन हो जाते हैं। इसे विज्ञान भी मानता है। दर्शनकारों का सिद्धान्त है कि जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है, उसी में लीन भी होता है। अतः आकाश शब्द का उपादान वा समवायि कारण सिद्ध होता है।

काल और दिशा

[काल—काल का लक्षण—काल और नित्य पदार्थ—दिशा का निरूपण—दिशाविभाग—दिक् और काल की तुलना]

काल का लक्षण—कणाद ने काल के ये लक्षण बतलाये हैं—

"अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ।"
—वै० सू० (२।२।६)

भिन्न-भिन्न कार्यों का आगे-पीछे होना या एक साथ होना, देर से या शीघ्रता से होना, ये सब काल के सूचक चिह्न हैं। काल पौर्वापर्य आदि गुणों का आधार होने के कारण द्रव्य है। आकाश की तरह निरवयव होने के कारण नित्य है।

काल मूलतः एक ही है। किन्तु अनित्य पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का आधार होने के कारण *भूत*, *वर्त्तमान* और *भविष्य* तीन प्रकार का माना जाता है।

"कालस्तु उत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणस्त्रिविधः"
—सप्तपदार्थी

भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान—यह त्रिविध विभाग काल की अनेकता सिद्ध नहीं करता। क्योंकि काल तो सर्वदा नित्य और शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। हाँ, कार्य-विशेष को भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कह सकते हैं। जिस कार्य का भाव है, किन्तु पहले नहीं था, वह वर्त्तमान है। जिस कार्य का भाव था, पर अब अभाव हो गया है, वह भूत है। जिस कार्य का अभाव है, किन्तु भाव होने की संभावना है, वह भविष्यत् है। अतः भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कार्य के विशेषण हैं, काल के नहीं।

लोकव्यवहारार्थ समय का परिमाण नापने के लिये कतिपय विभाग कल्पित किये गये हैं। किन्तु ये विभाग किसी-न-किसी प्रत्यक्ष कार्य के आधार पर ही कायम हैं। अतएव इन्हें औपाधिक विभाग समझना चाहिये।

"परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः"
—भाषापरिच्छेद

जैसे, पलक मारने में जितना समय लगता है उसे एक *निमेष* कहते हैं। इसी तरह एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक में जितना समय लगता है वह एक *अहोरात्र* कहलाता है। कालसूचक जितने यन्त्र हैं वे यथार्थतः कार्यविशेष को ही नापते हैं। वालुकायन्त्र से गिरनेवाली वालू का परिमाण नापा जाता है। धूपघड़ी से छाया का परिमाण नापा जाता है। सुईवाली घड़ी से सुई की गति का परिमाण नापा जाता है।

काल और नित्य पदार्थ—संसार में जितने भी कार्य (अनित्य पदार्थ) हैं वे सब काल-प्रसूत हैं। अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश काल से ही संभव है।

अतः घट, पट आदि जितने अनित्य द्रव्य हैं उनका निमित्तकारण काल ही है। काल-पिण्ड योग के द्वारा ही संसार के सभी कार्य चलते हैं।

"जन्यानां जनकः कालः जगतामाश्रयो मतः"
—भाषापरिच्छेद

हां, नित्य पदार्थों पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। अर्थात् दिक् आकाश आदि में भूत, भविष्य, वर्त्तमान के भेद लागू नहीं होते। उनका कभी अभाव नहीं होता, अतः उनके साथ त्रिकाल-भेद नहीं लग सकता। वे शाश्वत होने के कारण काल की परिधि से परे हैं। साधारण बोलचाल में ऐसे प्रयोग देखने में आते हैं कि जब सूर्य-चन्द्र कुछ भी नहीं *था* तब भी प्रकाश *था*। जब सृष्टि का विनाश हो जायगा तब भी काल *रहेगा*। इत्यादि। किन्तु यहाँ भूत और भविष्यकाल पश्चाद्भाव और प्रागभाव के सूचक नहीं हैं। अर्थात् उनसे यह नहीं इङ्गित होता कि आकाश का पीछे अभाव हो गया अथवा काल का पहले अभाव था। भूत-भविष्यत् अनित्य सूर्य, चन्द्र और सृष्टि के विशेषण हो सकते हैं, किन्तु नित्य आकाश और काल के नहीं। अतएव यहाँ जो नित्य पदार्थों के साथ कालिक सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह औपाधिक है।

निष्कर्ष यह कि नित्य पदार्थ का काल से सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु अनित्य पदार्थ जितने हैं उन सबका सम्बन्ध काल से रहता है। जितने अनित्य पदार्थ हैं वे उत्पत्तिमान् कार्य हैं। और कार्य बिना काल के सम्पादित नहीं हो सकता। अतएव काल को अनित्य पदार्थों का कारण कह सकते हैं। यही आशय कणाद के इस सूत्र से प्रकट होता है—

"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति"
—वै० सू० (२।२।६)

दिशा का निरूपण—एक वस्तु से दूसरी वस्तु किस ओर और कितनी दूरी पर है, यह ज्ञान जिसके द्वारा संभव हो सकता है, उसीका नाम दिक (*दिशा*) है।

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्"
—वै० सू० (२।२।१०)

काल के द्वारा वस्तुओं का जो पूर्वापर सम्बन्ध-ज्ञान होता है, वह सापेक्ष रहता है। अर्थात् किसी वस्तु विशेष को आधार मानकर समय का परिमाण नापा जाता है। जैसे, विक्रम के बाद २००० वर्ष, ईसा से १००० वर्ष पहले। वही घटना एक की अपेक्षा *पूर्व* और दूसरी की अपेक्षा *पर* कही जा सकती है। इसी तरह दिक् के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। वही वस्तु एक की अपेक्षा *पूर्ववर्त्तिनी* और दूसरी की अपेक्षा *पश्चिमवर्त्तिनी* कही जाती है। काल और दिक् दोनों से पूर्वापर (आगे पीछे) का ज्ञान होता है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि काल से *आनुपूर्विक प्रवाह* (Series of Succession) का ज्ञान होता है, पर दिक् से केवल *सहवर्त्तित्व* (Co-existence) का ज्ञान होता है।

दिक् में भेद जतानेवाला कोई लक्षण नहीं है। केवल एकमात्र सत्ता है।

"तत्त्वं भावेन"
—वै० सू० (२।२।१२)

अत दिक् भी काल और आकाश के समान एक ही है। किन्तु कार्य-विशेष से उत्पन्न मूर्त्तरूप उपाधि के कारण अनेक दिशाएँ कही जाती हैं।

"कार्यविशेषेण नानात्वम्"
(२।२।१३)

दिशाविभाग— लोकव्यवहारार्थ दिशाओं के चार विभाग किये गये हैं—

(१) पूर्व— जिधर सबसे पूर्व सूर्य का दर्शन होता है।

प्रथमम् अञ्चतीति प्राची।

अर्थात् सूर्य पहले-पहल इसी तरफ दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव यह *प्राची* दिशा कहलाती है। इस दिशा के देवता महेन्द्र माने गये हैं। अतएव वह *माहेन्द्री* दिशा भी कहलाती है।

(२) दक्षिण—जिधर पूर्वाभिमुख खड़े होने पर दक्षिण हाथ पड़ता है।

अर्वाक् अञ्चतीति अवाची।

अर्थात् सूर्य कतराकर इस तरफ चढ़ते हैं। अतएव यह *अवाची* दिशा कहलाती है। इस दिशा के देवता यमराज माने गये हैं। अत यह *यामी* दिशा भी कहलाती है।

(३) पश्चिम—जिधर सूर्य का दर्शन सबसे पश्चात् होता है।

प्रत्यक् अञ्चतीति प्रतीची।

अर्थात् सबसे अन्त मे इस तरफ सूर्य आते हैं। अत यह प्रतीची दिशा कहलाती है। इस दिशा के देवता हैं वरुण। अतएव यह *वारुणी* दिशा भी कहलाती है।

(४) उत्तर—जिधर सूर्य दृष्टि-पथ से उतरे रहते हैं।

उदक् अञ्चतीति उदीची।

अर्थात् इस तरफ सूर्य आते दिखाई नहीं पड़ते। *अत- यह उदीची* दिशा कहलाती है। इस दिशा के देवता हैं कुबेर। अतएव इसे *कौबेरी* दिशा भी कहते हैं।

उपर्युक्त दिशाओं के अन्तराल मे जो जो अभिसन्धिस्थल हैं वे चतुष्कोण के नाम से विख्यात हैं—

(१) पूर्व-दक्षिण कोण को *अग्नि* कोण कहते हैं।
(२) दक्षिण-पश्चिम कोण को *नैऋत्य* कोण कहते हैं।
(३) पश्चिम-उत्तर कोण को *वायव्य* कोण कहते हैं।
(४) उत्तर पूर्व कोण को *ईशान* कोण कहते हैं।

इनके अतिरिक्त दो विभाग और हैं—एक ऊपर (ऊर्ध्व) और एक नीचे (अध)। इन्हें क्रमश *ब्राह्मी* और *नागी* भी कहते हैं।

अतएव सब मिलाकर दिशा के दश विभाग हैं *। वास्तव में तो दिक् (Space) एक ही है। किन्तु सुविधा के हेतु औपाधिक आधार को मानकर ये विभाग कल्पित किये जाते हैं।

दिक् (पौर्वापर्य्य) गुण से युक्त होने के कारण द्रव्य है। यह किसी का आश्रित नहीं। यह आकाश की तरह निरवयव, अतः सर्वदा नित्य, है।

दिक् और काल की तुलना—दिक् और काल पूर्वत्व-परत्व आदि गुणों का संस्थान होने के कारण द्रव्य हैं। दोनों निराकार, निरवयव और नित्य हैं। इनमें अनेकता नहीं। अतः इनकी जाति नहीं हो सकती। संसार में एक होने से ये व्यक्ति हैं, इनमें विभाग काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। वे उपाधि की अपेक्षा रखते हैं, अतः सापेक्ष्य हैं।

तब दिक् और काल में अन्तर क्या है ? यह निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जायगा—

(१) दिक् और काल दोनों से आगे-पीछे का बोध होता है। जैसे—घर के *पीछे* तालाब है, और मेरे *पीछे* उसका जन्म हुआ। किन्तु यह *पीछे* शब्द दोनों जगह एक अर्थ का सूचक नहीं है। प्रथम वाक्य में उसका अर्थ है पृष्ठ *भाग में अवस्थान* और द्वितीय वाक्य में उसका अर्थ है उत्तर *काल में संघटन*। यह संभव है कि तालाब घर से दिशा में पीछे होने पर भी काल में पूर्ववर्त्ती हो अतः देश-सम्बन्धी और काल-सम्बन्धी पौर्वापर्य भिन्न-भिन्न गुण हैं।

(२) दिक् और काल दोनों के विभाग औपाधिक हैं। किन्तु दोनों की उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। दिक् के विभाग मूर्त्ति पर अवलम्बित रहते हैं और काल के विभाग क्रिया पर। सूर्यादि मूर्त्त पदार्थों के दर्शन से प्राची आदि दिशा का निरूपण होता है और इन पदार्थों की गति आदि क्रिया से काल का निरूपण होता है।

(३) कालिक सम्बन्ध नियत होता है। जैसे—ज्येष्ठ भ्राता कभी कनिष्ठ भ्राता से छोटा नहीं हो सकता। किन्तु दैशिक सम्बन्ध में ऐसी नियति नहीं होती। जिस प्रदेश को अभी हम पूर्व कहते हैं वही कालान्तर में हमारे लिये पश्चिम भी हो जा सकता है। अर्थात् दैशिक सम्बन्ध बदला जा सकता, किन्तु कालिक सम्बन्ध अपरिवर्त्तनीय है।

---

* ऐन्द्री आग्नेयी याम्या नैर्ऋती वारुणी वायवी कौबेरी ऐशानी नागी ब्राह्मी चेति दशदिशः।

इसी बात को यों समझिये—
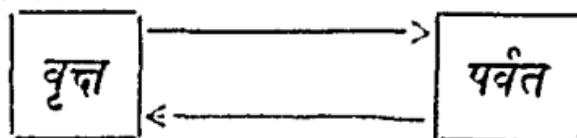
उपर्युक्त चित्रों में दो वस्तुओं की आपेक्षिक स्थिति बतलाई गई है। यह अपनी इच्छा पर निर्भर करता है कि आप पर्वत से चलकर वृक्ष तक पहुँचें, अथवा वृक्ष से चलकर पर्वत तक पहुँचें। दोनों क्रम संभव हैं। किन्तु काल में यह बात नहीं।
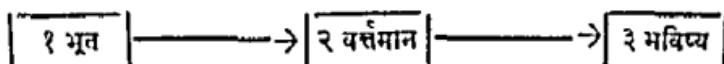
यहाँ एक ही नियतप्रवाह है। हमलोग भूत से आ रहे हैं और भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु, इसका उलटा नहीं चल सकते। अर्थात् कोई भविष्य से भूत की ओर नहीं जा सकता। अत काल को नियतक्रियोपनायक * (Irreversible) कहा गया है।

---

* न च काल एव संयोगोपनायकोऽस्ति। किं द्रव्यान्तरेण वाच्यम् कालस्य नियतक्रियोपनायकत्वेनैव सिद्धे। अनियत परधर्मोपनायकत्वकल्पनायां तु काश्मीरकुङ्कुमाङ्गराग कार्णाटकामिनीकुचकलशं प्रत्युपनयेत्।

—— वै० सू० उपस्कार २।२।१०

आत्मा

[आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण—आत्मा के चिह्न—अनेकात्मवाद-आत्मा और शरीर]

आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण—वैशेषिक सूत्र के तृतीय अध्याय मे कणाद ने आत्मा के सम्बन्ध में विशद विवेचना की है। गौतम के न्यायसूत्र का तृतीय अध्याय भी इन्हीं विवेचनाओं से भरा हुआ है। आत्मा के सम्बन्ध मे न्याय और वैशेषिक का प्रायः एक ही मत है।

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये कणाद इस प्रकार उपन्यास (विचारारम्भ) करते हैं—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः

—वै० सू० ३।१।१

अर्थात् इन्द्रियों के जो विषय (रूप, रस आदि) हैं वे तो प्रसिद्ध ही हैं। अब विचारणीय यह है कि इन्द्रियों के द्वारा इन विषयों का ग्रहण वा भोग करनेवाला कौन है। स्वयं इन्द्रियाँ तो साधनमात्र हैं। उनका प्रयोग करनेवाला कोई दूसरा होना चाहिये। जिस तरह अस्त्र स्वतः नहीं चलता, किन्तु किसी के द्वारा सञ्चालित होता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वतः काम नहीं करतीं। उन्हें प्रेरित करनेवाला कोई और ही है। अतः सूत्रकार कहते हैं—

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेऽभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः

अब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इन्द्रियों का सञ्चालक शरीर ही क्यों न समझा जाय ? इसके उत्तर में कणाद कहते हैं—

सोऽनपदेशः
कारणाऽज्ञानात्
कार्येषु ज्ञानात्
—वै० सू० ३।१।२-५

इन्द्रियों के द्वारा जो कार्य होते हैं वे चैतन्यगुणविशिष्ट होते हैं। किन्तु शरीर के कारण-भूत जो उपादान (पृथ्वी, जल आदि के अणु) हैं, वे चैतन्यशून्य (जड द्रव्य) हैं। जो गुण कारण में नहीं है, वह कार्य मे भी नहीं हो सकता। जो गुण कार्य मे है, उसका कारण में भी होना आवश्यक है। इसलिये ज्ञान-रहित उपादानों से निर्मित कार्य शरीर चैतन्यवान् नहीं हो सकता। चैतन्य धर्म किसी और ही द्रव्य के आश्रित है। वह चेतन द्रव्य, जो इन्द्रियों का प्रवर्त्तक और विषयों का ज्ञाता है, शरीर से भिन्न '*आत्मा*' है।

ज्ञान वा चैतन्य भी एक गुण है। जिस प्रकार रूपादि गुण किसी द्रव्य के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञान वा चैतन्य का भी कोई आश्रय-भूत द्रव्य होना चाहिये। ज्ञान से ज्ञाता का अस्तित्व सूचित होता है। शंकर मिश्र अपने वैशेषिक सूत्रोपस्कार में कहते हैं—

ज्ञानं क्वचिदाश्रितम्
कार्यत्वात्
रूपादिवत्

अब ज्ञान का यह आधार द्रव्य क्या है ? भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानों का एक ही आधार रहता है, और वह 'मैं' शब्द के द्वारा सूचित होता है।

"मैंने जिस वस्तु को देखा था, उसको अब छू रहा हूँ"*

यहाँ प्रत्यभिज्ञा (स्मृतिज्ञान) के द्वारा यह जाना जाता है कि द्रष्टा (देखनेवाला) और स्प्रष्टा (छूनेवाला) एक ही व्यक्ति है।

यह 'मैं' क्या है ? महर्षि गौतम ने न्यायसूत्र के तृतीय अध्याय मे इस प्रश्न का गहरा विवेचन किया है। वे दिखलाते हैं कि 'मैं' शब्द से न तो पञ्चभूत (पृथ्वी, जल आदि)

* योऽहमद्राक्षम् सोऽहं स्पृशामीति प्रत्यभिज्ञारूपतया। —उपस्कार

का बोध होता है, न दिक्-काल का और न मन का। *'मेरा शरीर'*, *'मेरी इंद्रिय'*, *'मेरा मन'*, इन प्रयोगों से स्पष्ट सूचित होता है कि *'अहंपदवाच्य'* (*'मैं'* नामक) पदार्थ शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न है। इस प्रकार 'आत्मा' को छोड़कर और सभी द्रव्य छँट जाते हैं। अतः *'मैं'* शब्द को आत्मा का वाचक मानना पड़ेगा।

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च

—न्या० सू० ३।२।४१

'मैं' के साथ जिन विधेयों (Predicates) का प्रयोग होता है वे आत्मा ही में लागू होते हैं। 'मैं सुखी हूँ' 'मैं जानता हूँ,' 'मैं इच्छा करता हूँ,'—ऐसे प्रयोगों से बोध होता है 'मैं' आत्मा का ही पर्यायवाचक है। 'मैं जल हूँ' या 'मैं आकाश हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता। अतएव 'मैं' का अर्थ वह चेतन द्रव्य (आत्मा) है, जो ज्ञान-इच्छा, सुख-दुःख आदि गुणों का आधार है।

चार्वाक प्रभृति अनात्मवादी यह आपत्ति उठाते हैं कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', 'मैं गोरा हूँ', 'मैं खा रहा हूँ'—ऐसे प्रयोग भी तो *'मैं'* शब्द के साथ किये जाते हैं। इन प्रयोगों से शरीर के गुण या कर्म सूचित होते हैं। फिर *'मैं'* शब्द से शरीर ही का अर्थ क्यों न ग्रहण किया जाय* ?

इसके उत्तर में कणाद कहते हैं—

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः

वै० सू० ३।२।१२

अर्थात् 'देवदत्त जा रहा है, 'यज्ञदत्त जा रहा है', ऐसे प्रयोग *औपचारिक* (Figurative) हैं। देवदत्त और यज्ञदत्त के शरीर तो जड़ पदार्थ हैं और जड़ पदार्थ स्वयं किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। फिर गमन-क्रिया का कर्त्ता शरीर कैसे समझा जा सकता है ? चेतन आत्मा के द्वारा प्रेरित होने पर ही शरीर मे गमन-क्रिया का संचार हो सकता है। इसलिये, 'मैं जा रहा हूँ',—यहाँ 'मैं' शब्द शरीर के लिये नहीं आया है। यदि यह कहिये कि 'मैं' आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है तो सो भी नहीं, क्योंकि आत्मा निराकार है और उसमे चलने की क्रिया संभव नहीं है। अतः 'मैं' शब्द का जो व्यवहार यहाँ हुआ है, वह वस्तुतः आत्मप्रेरित शरीर के लिये है। शरीर और आत्मा के सम्बन्ध से शरीर में जो चलने का

---

* मई स्थूलः कृशोऽस्मीति समानाधिकरण्यतः ।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ॥

—चार्वाकदर्शन (स० द० स०)

प्रत्यय होता है, उसे *औपाधिक* समझना चाहिये। जैसे, रथ निर्जीव पदार्थ है। वह स्वतः चल नहीं सकता। चलनेवाला है घोड़ा। तथापि हम कहते हैं कि '*रथ आ रहा है।*' ऐसे प्रयोगों को *लाक्षणिक* या *औपचारिक* जानना चाहिये।

'मैं मोटा हूँ' इत्यादि प्रयोग औपचारिक हैं। यहाँ अभिप्राय है कि 'मेरा शरीर मोटा है।' '*मेरा शरीर*' ऐसा कहने से ही बोध होता है कि *मैं शरीर से भिन्न हूँ*। नहीं तो षष्ठी विभक्ति क्यों लगती ?

इसके विरोध में प्रतिपक्षी यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'मेरा आत्मा' ऐसा प्रयोग भी तो देखने में आता है। फिर 'मैं' से आत्मा की भिन्नता भी क्यों नहीं मानी जाय ? यदि 'मैं' और 'आत्मा' अभिन्न हैं तो तादात्म्यसूचक प्रथमा विभक्ति लगनी चाहिये थी न कि सम्बन्ध-सूचक षष्ठी विभक्ति।

इसका उत्तर यह है कि कहीं-कहीं स्वार्थ में भी षष्ठी विभक्ति लगती है। जैसे, अयोध्या *की* नगरी, वट *का* वृक्ष, राम *का* नाम इत्यादि। यहाँ विभक्तियों का लोप कर देने से भी वही अर्थ निकलता है। जिस तरह 'अयोध्या की नगरी' अयोध्या से भिन्न नहीं है, उसी तरह 'मेरा आत्मा' भी 'मैं' से भिन्न नहीं है।

'देवदत्त' आदि नाम शरीर के लिये प्रयुक्त नहीं होते। यदि ऐसा होता तो 'देवदत्त मर गया'—कहने से यह बोध होता कि देवदत्त का शरीर मर गया। किन्तु शरीर तो मरने पर भी बना रहता है। 'देवदत्त मर गया' का अर्थ होता है कि शरीर-विशेष से आत्मा का सम्बन्ध छूट गया। इस तरह देवदत्त पद का प्रयोग शरीर विशिष्ट आत्मा के लिये होता है।

सारांश यह है कि 'मैं' का *मुख्यार्थ* है आत्मा—न कि शरीर। देह के लिये जो 'मैं' का प्रयोग होता है, उसे औपचारिक जानना चाहिये।

वेद-पुराण सभी एक स्वर से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। *यदि आत्मा ही न हो* तो फिर धर्माधर्म और कर्मफल का कुछ अर्थ ही न रहेगा। किन्तु केवल शब्द प्रमाण (श्रुति-स्मृति वचन) से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती। प्रत्यक्ष और अनुमान से भी आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है। केवल 'मैं' शब्द ही आत्मा की सत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है। अतएव वैशेषिककार कहते हैं—

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम्

वै० सू० ३।२।९

अर्थात् आगम के अतिरिक्त प्रमाणान्तर से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

ज्ञान से ज्ञाता (आत्मा) का अस्तित्व सूचित होता है। यह अनुमान (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध या (३) अनैकान्तिक नहीं कहा जा सकता।*

(१) ज्ञान का कार्य होना सिद्ध है, इसलिये यह अनुमान असिद्ध नहीं हो सकता।

(२) ज्ञान का आत्मा के साथ विरोध नहीं है, इसलिये यह अनुमान विरुद्ध भी नहीं।

(३) ज्ञान आत्मातिरिक्त वस्तुओं में नहीं पाया जाता, इसलिये यह अनुमान अनैकान्तिक भी नहीं कहा जा सकता।

इन हेत्वाभासों का वर्णन करने के उपरान्त सूत्रकार कहते हैं—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्

—वै० सू० ३।१।१८

अर्थात् ज्ञान से कार्य को देखकर जो ज्ञानी आत्मा का अनुमान किया जाता है, वह पूर्वोक्त त्रिविध दोषों से रहित, अतएव माननीय, है।

आत्मा के चिह्न—महर्षि कणाद आत्मा के निम्नलिखित चिह्न बतलाते हैं

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।

—वै० सू० ३।२।४

जीवित शरीर मे जो-जो व्यापार होते हैं, यथा श्वासादि क्रिया, पलकों का गिरना उठना, मन का दौड़ना, इन्द्रियों के विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि के अनुभव—वे सब आत्मा के द्योतक हैं। आत्मा से शरीर का सम्बन्ध छूट जाते ही वे सब व्यापार बंद हो जाते हैं।

(१) **प्राण-अपान**—वायु स्वभावतः तिर्यग्गामी (तिरछा चलनेवाला) है। उसका उर्द्धगमन (प्राण) और अधोगमन (अपान) आत्मा ही के प्रयत्न का फल है। जो प्रयत्न इच्छापूर्वक किये जाते हैं वे योग्य प्रयत्न (Voluntary Effort) कहलाते हैं। किन्तु आत्मा के बहुत-से प्रयत्न ऐसे हैं जो जीवन-रक्षा के हेतु स्वाभाविक बन गये हैं। ऐसे प्रयत्न को *जीवनयोनि प्रयत्न* (Automatic Effort) कहते हैं। स्वप्नावस्था में ऐसे ही प्रयत्न होते रहते हैं।†

---

* इनका वर्णन हेत्वाभास के प्रकरण में देखिये।

† सुषुप्तिदशायां कथं प्राणापानयोरुर्द्ध्वाऽधोगती इति चेन्न। तदानीं योग्यप्रयत्नाभावेऽपि प्रयत्न तरस्य सद्भावात् स एव जीवनयोनि प्रयत्न समुच्यते।

—वैशेषिकसूत्रोपस्कार

(२) निमेष-उन्मेष—निमेष का अर्थ है पलक का गिरना। उन्मेष का अर्थ है पलक का उठना। ये दोनों कार्य बराबर होते रहते हैं। इनका प्रवर्त्तक कौन है? किसके इशारे पर पलकें कठपुतली की तरह नाचती रहती हैं? * यदि शरीर यन्त्र का कोई सञ्चालक नहीं है, तो ये कलपुर्जे आप-से-आप कैसे नियमित कार्य करते रहते हैं?

(३) जीवन—जीवन से मांसपेशियों की वृद्धि, शारीरिक क्षतियों की पूर्त्ति आदि कार्य सूचित होते हैं। जिस प्रकार गृहस्वामी भग्न गृह का जीर्णोद्धार करता रहता है, उसी प्रकार देहाधिष्ठाता आहारादि के द्वारा शरीर का पोषण और संवर्द्धन करता रहता है। आँख में कुछ पड़ जाने पर वह तुरत हाथ को वहाँ सहायता के लिये भेज देता है। कोई अंग जल जाने पर वह भीतर से नवीन मांस और त्वचा देकर पूर्त्ति करता है। आत्मा को शरीर-रूपी गृह का अधिष्ठाता समझना चाहिये। †

(४) मनोगति—मन को प्रेरित करनेवाला भी आत्मा ही है। जैसे लड़का इच्छानुसार गेंद या गोली लेकर इधर-उधर फेंकता है, वैसे ही आत्मा भी मन को इच्छानुसार इधर-उधर दौड़ाता है ‡।

(५) इन्द्रियान्तर विकार—इमली आदि खट्टे फलों को देखते ही मुँह में पानी भर आता है। इसका क्या कारण है? पहले रूप-विशेष के साथ रस-विशेष का अनुभव हो चुका है। जब फिर वह रूप कहीं दिखाई पड़ता है, तब उसी रस की अनुमिति होती है। अनुमिति विना व्याप्तिज्ञान के नहीं होती। व्याप्तिज्ञान स्मृति-संस्कार के द्वारा होता है, और वह संस्कार भूयोदर्शन से बनता है। पहले कई बार रूपसहचरित रस का अनुभव हो चुकने के बाद ही नेत्रेन्द्रिय के द्वारा रसनेन्द्रिय का विकार होता है। इससे सूचित होता है कि सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही है।

(६) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—ये सब मनोभाव भी आत्मा के सूचक हैं। सुख, दुःख, इच्छा आदि गुण हैं। और गुण निराश्रय नहीं रहता। वह किसी आधार में आश्रित

---

* यथा दारुपुत्रकनर्त्तनं कस्यचित् प्रयत्नात्, तथाक्षिपक्ष्मनर्त्तनमपि तेन प्रयत्नवानिति अनुमीयते —वै० उ०

† यथा गृहपतिर्भग्नस्य गृहस्य निर्माणं करोति लघीयो वा गृहं वर्धयति तथा देहाधिष्ठाता गृहस्थानीयस्य देहस्य आहारादिना वृद्धिमुपचयं करोति क्षतञ्च भेषजादिना प्ररोहयति भग्नञ्च करचरणादि संरोहयति तथाच गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिध्यतीति।

‡ यस्येच्छाभिध्याने मनः प्रेरयतः स आत्मेत्यनुमीयते। यथा गृहकोणावस्थितो दारकः कन्दुकं लाक्षागुटिकं वा गृहाभ्यन्तर एव इतस्ततः प्रेरयति।

रहता है। वह आधार-द्रव्य शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर पाञ्चभौतिक है और पञ्चभूत जड़ पदार्थ (चैतन्य-रहित) हैं।

आत्मा नित्य द्रव्य है। वैशेषिककार कहते हैं—

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते।

वै० सू० ३।२।५

जैसे वायु परमाणु स्पर्श गुणवान् होने से द्रव्य, और निरवयव होने से नित्य है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान, सुख, इच्छा आदि गुणों का आधार होने से द्रव्य, और निरवयव होने से नित्य है।

अनेकात्मवाद—आत्मा एक है या अनेक? इस प्रश्न के उत्तर में कणाद कहते हैं—

व्यवस्थातो नाना

—वै० सू० ३।२।२०

अर्थात् यह देखने में आता है कि कोई सुखी है, कोई दुःखी है, एक विद्वान् है तो दूसरा मूर्ख है। इससे सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न शरीरों मे भिन्न-भिन्न आत्मा हैं, एक ही आत्मा नहीं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि अवस्थाभेद तो एक ही शरीर में भी पाया जाता है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि के भेद से शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ देखने में आती हैं। फिर एक ही शरीर में अनेक आत्मा क्यों नहीं माने जायँ?

इसका समाधान यह है कि शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं—एक ही काल मे नहीं। किन्तु सुखी और दुःखी जीव समकालीन पाये जाते हैं। एक ही समय मे चैत्र सुखी है तो मैत्र दुःखी है। एक काल में दो प्रतिकूल धर्म एक ही धर्मी मे नहीं हो सकते (Law of Contradiction)। अतएव विरुद्ध धर्मों के यौगपद्य (Simultaneity) से धर्मी (आत्मा) का अनेकत्व सूचित होता है।

दूसरे के शरीर में भी आत्मा है, इसका क्या प्रमाण? इसका उत्तर सूत्रकार यों देते हैं—

प्रवृत्तिनिवृत्तिश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्रलिङ्गम्

—वै० सू० ३।१।१९

अर्थात् दूसरों में प्रवृत्ति (स्वहित-प्राप्ति की चेष्टा) और निवृत्ति (अहित-परिहार की चेष्टा) देखने से ज्ञात होता है कि हमारी तरह उनमें मैं भी इच्छा और द्वेष हैं; क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति क्रमशः इच्छा और द्वेष से ही उत्पन्न होती है। इच्छा-द्वेष के भाव से उनमें आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है।

शास्त्रों से भी आत्माओं की अनेकता सिद्ध होती है। श्रुतियों में—

'द्वे *ब्रह्मणी वेदितव्ये*'

आदि वाक्य आत्मा की अनेकता सूचित करते हैं। अतः अनेकात्मवाद में शास्त्र भी प्रमाण हैं। इसलिये वैशेषिककार कहते हैं—

शास्त्रसामर्थ्याच्च

—वै० ३।२।२१

आत्मा और शरीर—आत्मा नित्य और व्यापक है। किन्तु शरीर से संयुक्त होने पर इसके ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न सीमित हो जाते हैं। मन सहकृत इन्द्रियों के द्वारा इसे बाह्य विषय-ज्ञान तथा केवल मन के द्वारा इसे अपने गुणों का ज्ञान होता है। शरीर से सम्पर्क छूट जाने पर आत्मा को विषय-ज्ञान नहीं होता।

अशरीराणामात्मनां न विषयावबोधः

—न्यायकन्दली

मोक्षावस्था में आत्मा सुख-दुःख आदि सभी अनुभवों से विरहित हो जाता है।

मन

[मन का प्रमाण—मन की एकता]

मन का प्रमाण—कणाद मन का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये यह युक्ति देते हैं—

"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम् ।"

वै० सू० (३।२।१)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों के रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान होता है और कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। जब आप अन्यमनस्क रहते हैं तब आँख के सामने से कोई चीज चली जाती है और तो भी आपको उसका ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षज्ञान के लिये केवल आत्मा, इन्द्रिय और विषय ही पर्याप्त कारण नहीं है। *मन* की सहायता भी आवश्यक है। इन्द्रिय-सन्निकृष्ट विषय का ज्ञान मन के द्वारा ही आत्मा तक पहुँच सकता है। अर्थात् आत्मा मे ज्ञानोत्पादन करने का साधन मन ही है। इसलिये जब मन अन्यत्र रहता है तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता।

प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं—

"श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् वाह्येन्द्रियैरगृहीत सुखादिग्राह्यान्तरभावाच्च अन्तःकरणम्"

(प्रशस्तपादभाष्य)

अर्थात् बहुत-से ज्ञान ऐसे हैं जो वाह्येन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न नहीं होते। स्मृति-ज्ञान के लिये नेत्रादि वाह्येन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। अंधे, बहरे आदि में भी स्मृतिज्ञान उत्पन्न होता है। इसी तरह सुख-दुःख का अनुभव वाह्येन्द्रियों पर निर्भर नहीं करता। ऐसे ज्ञानों का कारण कोई इन्द्रियविशेष मानना पड़ेगा।

अतः विश्वनाथपञ्चानन मन की परिभाषा में कहते हैं—

"साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।"

—भाषापरिच्छेद

अर्थात् सुख आदि के ज्ञान का करण या साधक इन्द्रिय मन है।

"सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।"

(तर्कसंग्रह)

मन भीतरी इन्द्रिय होने से *अन्तःकरण* कहलाता है।

इस प्रकार मन दो कार्य करता है—

(१) वह *बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायक कारण* होता है।

(२) आन्तरिक प्रत्यक्ष ज्ञान (सुख दुःखादि के अनुभव) में *प्रधान कारण* होता है।

शिवादित्य मन का निर्धारण यों करते हैं—

"*मनस्त्वजातियोगि स्पर्शशून्यं क्रियाधिकरणं मनः।*"

(सप्तपदार्थी)

मन *स्पर्शशून्य* और *क्रियाधिकरण* है। इन दो लक्षणों के द्वारा मन का पृथक् निर्देश हो जाता है। *स्पर्शशून्य* कहने से पृथ्वी आदि स्पृश्य द्रव्य छँट जाते हैं। बाकी बचे अस्पृश्य द्रव्य। उनमें क्रियाधिकरण कहने से आकाश प्रभृति निष्क्रिय द्रव्यों का बहिष्कार हो जाता है। अतएव इस परिभाषा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं लगते।

मन की एकता—क्या शरीर में आत्मा की तरह मन भी एक ही है? अथवा इन्द्रियों की तरह मन भी अनेक हैं? इस प्रश्न के उत्तर में *कणाद* का सूत्र है—

"*प्रयत्नायौगपद्यात् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्*"

(३।२।३)

अर्थात् एक समय में एक ही प्रकार का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। इसी तरह एक ही समय में दो तरह के प्रयत्न नहीं किये जा सकते। यदि शरीर में अनेक मन रहते तो एक साथ ही कितने ज्ञान उत्पन्न होते और भिन्न-भिन्न प्रयत्न एक ही साथ हो सकते। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक समय में दो बातें नहीं सोची जा सकतीं। एक ही साथ दो काम नहीं किये जा सकते। इससे सूचित होता है कि एक शरीर में एक ही मन रहता है।

मन एक अणुविशेष के रूप मे शरीर में विद्यमान रहता है। वह पारे के कण की तरह चञ्चल, और विद्युत् को तरह तीव्र है। वाह्येन्द्रियाँ जो विषय-ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसे मन तुरत ग्रहण कर आत्मा के पास पहुँचा देता है। मन का कार्य निरन्तर विद्युद्वेग से चलता रहता है, क्षणमात्र भी उसकी गति-परम्परा नहीं रुकती। किन्तु मन है तो एक ही। एक ही समय दो जगह कैसे रह सकता है? इसलिये हम एक ही समय में दो अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते। एक के बाद ही दूसरा अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ एक शंका उठती है। क्या एक ही समय मे अनेक बातों का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता? मान लीजिये, हम बगीचे मे टहल रहे हैं। अपने सामने रंग-बिरंगी मनोहर फूलों को देख रहे हैं। उनकी मीठी-मीठी सुगन्ध हमें लग रही है। पास ही से संगीत की ध्वनि आ रही है। यहाँ रूप, गन्ध और शब्द इन तीनों का ज्ञान हमें एक ही साथ हो गया है।

किन्तु यथार्थतः बात कुछ और ही है। रूप, गन्ध, और शब्द इन तीनों को हम एक साथ ग्रहण नहीं कर सकते। जब हमारा ध्यान रूप पर रहता है तब गन्ध पर नहीं, जब गन्ध पर आता है तब शब्द पर नहीं। किन्तु हमारा ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर इतना शीघ्र दौड़ जाता है कि हमें उनके बीच मे समय का कुछ भी अन्तर नहीं मालूम होता। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही समय में ये सब कार्य हो रहे हैं।

इस बात को समझाने के लिये कई दृष्टान्त दिये गये है। उल्का-भ्रमण के समय अग्नि की वृत्ताकार माला दीख पड़ती है। किन्तु वह यथार्थतः (अलात चक्र) * अग्नि का गोल चक्र नहीं रहता। एक ही अग्नि-शिखा इतनी शीघ्रता से घुमाई जाती है कि वह अनवच्छिन्न माला-सी प्रतीत होती है। देखने से ऐसा जान पड़ता है कि एक ही समय मे चारो ओर अग्नि की शिखा है। किन्तु एक समय में अग्नि-शिखा एक ही स्थान पर रह सकती है। वह इतनी तेजी के साथ घूमती है कि हमे एक ही साथ सर्वत्र उसका होना दिखाई पड़ता है। इसे दृष्टि-भ्रम समझना चाहिये।

इसी प्रकार मन इतनी आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है कि वे विषय क्रमानुवर्त्ती होते हुए भी हमें समकालीन प्रतीत होते हैं। इस यौगपद्य की प्रतीति को भ्रान्ति समझना चाहिये।

इसी बात को दूसरे दृष्टान्त से समझिये। मान लीजिये आप एक बड़ी-सी पूरी हाथ मे लेकर खा रहे हैं। यहाँ आपको हाथ के द्वारा पूरी का स्पर्श, नेत्र के द्वारा पूड़ी का रूप,

---

* अलातचक्र दर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्

(न्या० सू० ३।२।६१)

नासिका के द्वारा पूरी का गन्ध, और जिह्वा के द्वारा पूरी का स्वाद, और कान के द्वारा भक्षण का शब्द—ये पाँचो ऐन्द्रिक ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं।

मन इतनी शीघ्रता के साथ एक इन्द्रिय से दूसरी पर दौड़ जाता है कि आपको सभी इन्द्रियों का ज्ञान युगपत् (समकालीन) मालूम होता है। शतदल कमल को आप सुई से छेदिये। सुई तुरत इस पार से उस पार हो जायगी। अब यह बताइये कि सभी दल एक साथ ही छिद गये या क्रमशः? देखने से तो यह मालूम होता है कि सभी दलों में सूची भेदन क्रिया एक ही समय में हुई है। किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। एक के बाद ही दूसरे दल में छेद हुआ है। किन्तु दोनों के बीच में जो समय का अन्तर है वह इतना सूक्ष्म है कि स्थूल दृष्टि से उसका बोध नहीं हो सकता। इसी तरह मानसिक क्रियाओं मे इतना समय-लाघव होता है कि हमें सभी क्रियाएँ युगपत् जान पड़ती हैं।

शतावधान को ले लीजिये। शतावधानी उसे कहते हैं जो एक साथ ही सैकड़ों काम कर दिखाता है। किन्तु वास्तव में भ्रम के कारण ऐसा प्रतीत होता है। एक क्रिया के अनन्तर ही दूसरी क्रिया होती है। किन्तु शतावधानी इतनी शीघ्रता से भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करता है कि हमें उनमें आनन्तर्य (Succession) का ज्ञान नहीं हो, यौगपद्य (Simultaneity) का भ्रम होता है।*

किन्तु एक शंका और रह जाती है। जब हम सामने वृक्ष की ओर देखते हैं तब क्या एक समय में एक ही पत्ता दृष्टिगोचर होता है? और क्या एक बार पत्ता देखते हैं, दूसरी बार डाल? ऐसा तो नहीं होता। एक साथ ही डाल-पत्ते, फल फूल, सब देखने मे आ जाते हैं। इसी तरह रात्रि में ऊपर की ओर देखने से सैकड़ों तारे एक साथ ही दिखलाई पड़ते हैं। एक-एक कर नहीं देखे जाते। फिर यह कैसे कहा जाय कि एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है? इसी तरह हम कुर्सी पर बैठे हुए पैर हिला रहे हैं। यहाँ शरीर का धारण और प्रेरण ये दोनों क्रियाएँ एक साथ हो रही हैं। फिर एक समय में एक ही प्रयत्न का होना कैसे माना जाय?

इसका उत्तर यह है कि एक साथ ही अनेक वृक्ष, फल, फूल, पत्ते आदि जो देखे जाते हैं वह समूह रूप में। यहाँ समूह विशेष (Group) का ज्ञान एक समय में प्राप्त होता है। अतः यह समूहालम्बन ज्ञान कहलाता है। समूह में चाहे जितनी भी वस्तुएँ हों, किन्तु समूह एक ही

* "न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदानेकेन्द्रियजन्य ज्ञानमिति वाच्यम्। मनसोऽतिलाघवात् झटिति नानेन्द्रियसम्बन्धात् ज्ञानानि जायन्ते. उत्पलशतपत्रभेदवित् यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्।"

—सिद्धान्तमुक्तावली

है। इसलिये समूह का ज्ञान एक ही कहा जा सकता है, अनेक नहीं। सामूहिक विषयों मे बहुवचनत्व होने के कारण उनके ज्ञान मे बहुवचनत्व नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण मे धारण और प्रेरण, ये दो क्रियाएँ सामूहिक रूप में एक ही प्रयत्न पर अवलम्बित हैं। उनके लिये भिन्न-भिन्न प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक ही प्रयत्न मे अनेक क्रियाएँ सम्बद्ध रह सकती हैं। ऐसी अवस्था मे क्रिया-भेद से प्रयत्न-भेद नहीं होता। अर्थात् क्रियाएँ अनेक होने पर भी प्रयत्न एक ही है। *

निष्कर्ष यह कि कई ज्ञान वा प्रयत्न एक साथ नहीं हो सकते। इसी अयौगपद्य के आधार पर मन की एकता सूचित होती है।

"*ज्ञानायौगपद्यात् एकं मनः।*

—न्या० सू० (३।२।५६)

अर्थात्—एक शरीर मे एक ही मन रहता है। यह प्रत्येक शरीर मे एक अणु के रूप मे विद्यमान रहता है।

"*अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते।*"

(भाषापरिच्छेद)

कुछ **मीमांसकों** का मत है कि मन शरीर में विभु अर्थात् सर्वव्यापी है। किन्तु **न्यायवैशेषिक** वाले इसका खंडन करते हैं। मन समस्त शरीर में व्यापक नहीं माना जा सकता। इसके लिये *न्यायकन्दली* प्रभृति ग्रन्थों मे कई युक्तियाँ दी गई हैं—

(१) यदि मन सम्पूर्ण शरीर मे व्यापक होता तो एक साथ ही सभी इन्द्रियों के साथ वह संयुक्त रहता और एक ही समय में हमे चाक्षुप, श्रोत्रज, घ्राणज आदि भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष होते रहते। किन्तु यह अनुभवविरुद्ध है।

(२) आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे व्यापक है। यदि मन को भी सर्वव्यापी माना जाय तो कठिनता उत्पन्न होगी; क्योंकि दोनों के मिलने से सर्वव्याप्ति का द्वैगुण्य हो जायगा, जो असङ्गत है। अतः आत्मा और मन का संयोग असंभव हो जाता है। और दोनों का संयोग नहीं होने से ज्ञान और इच्छा की प्राप्ति असंभव हो जाती है।

---

* "नन्वेन तर्हि द्वाविमावर्थौ पुष्पितारतरव. इत्यनेकार्थप्रतिभास. कुत. कुतश्च स्वरादेरस्य सह प्रेरणाधारणे। न। अर्थसमूहालम्बनस्यैकज्ञानस्याप्रतिषेधात् बुद्धिभेद एव न तु तथा प्रतिभासः सर्वासामेकैकार्थनियतत्वात्।"

(*न्यायकन्दली*)

(३) यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के लिये आत्मा और मन का संयोग आवश्यक नहीं है ; केवल आत्मा और इन्द्रिय का संयोग होने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय आकाश भी तो सर्वव्यापी है। फिर सर्वव्यापी आत्मा के साथ उसका संयोग कैसे हो सकता है ? अतः मन का माध्यस्थ्य नहीं मानने से शब्द-ज्ञान असंभव हो जाता है।

(४) यदि मन को व्यापक मानकर व्यापक आत्मा के साथ उसका किसी-न-किसी प्रकार से संयोग भी मान लें, तो वह संयोग नित्य मानना पड़ेगा। क्योंकि संयोग टूटने के लिये संयुक्त वस्तु का उस स्थान में वहिर्भाव होना जरूरी है और जो सर्वव्यापी वस्तु है वह किसी स्थान से वहिर्भूत नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में मन-आत्मा का संयोग बरावर बना रहता और ज्ञान का तार कभी नहीं टूटता। इसलिये कभी स्वप्न (निद्रा) का होना असंभव हो जाता।

नोट—नैयायिक गण स्वप्नावस्था का यह कारण बतलाते हैं कि जब मन पुरीतत् नामक नाड़ी में प्रवेश कर जाता है तब उसका आत्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसा अवस्था में ज्ञान लुप्त हो जाता है। इसी को हम 'निद्रा' कहते हैं।

गुण

[गुण की परिभाषा—गुण के चौबीस प्रभेद—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, बुद्धि, प्रयत्न, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म—व्यापक और अव्यापक गुण।]

गुण की परिभाषा—कणाद ने गुण की परिभाषा यों की है—

"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"

—वै० सू० (१।१।१६)

(१) **द्रव्याश्रयी**—गुण निराधार नहीं रह सकता। वह जब रहेगा तब किसी द्रव्य ही में। इसलिये उसको *'द्रव्याश्रयी'* कहा गया है।

(२) **अगुणवान्**—किन्तु बहुत-से द्रव्य भी तो द्रव्यान्तर के आश्रित रह सकते हैं। जैसे, अग्नि इन्धन का आश्रित पाया जाता है। इसलिये गुण की परिभाषा में केवल द्रव्याश्रयी कहना पर्याप्त नहीं है। उसमें एक और ऐसा विशेषण जोड़ना आवश्यक है जिससे गुणों की कोटि में *आश्रित द्रव्यों का अन्तर्भाव नहीं होने पावे। द्रव्य का यह लक्षण है कि वह चाहे* स्वतन्त्र हो या आश्रित, उसमें गुण अवश्य ही रहेगा। इन्धन में जो अग्नि है उसमें भी अपने गुण मौजूद हैं। द्रव्य मात्र गुणवान् होता है। किन्तु स्वयं गुण गुणवान् नहीं कहा जा सकता। अग्नि का उष्णत्व गुण है। किन्तु उष्णत्व गुण का गुण क्या होगा? अतएव द्रव्य का गुण होता है, गुण का गुण नहीं हो सकता। इसलिये गुण का दूसरा लक्षण *'अगुणवान्'* कहा गया है।

(३) **संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः**—किन्तु कर्म का भी तो कुछ गुण नहीं होता और वह भी द्रव्याश्रित है। इसलिये पूर्वोक्त परिभाषा की कर्म में भी व्याप्ति हो जायगी। इस अतिव्याप्ति दोष को बचाने के लिये एक तीसरा विशेषण जोड़ना आवश्यक है। कर्म का लक्षण है कि वह संयोग और विभाग का कारण होता है। किन्तु गुण में यह बात नहीं।

उसे संयोग या विभाग से कुछ सरोकार नहीं। इसलिये गुण का कर्म से भेद लक्षित करने के लिये '*संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः*' कहा गया है।

सारांश यह कि गुण के तीन लक्षण हैं—

(१) द्रव्याश्रितत्व (२) निर्गुणत्व और (३) निष्क्रियत्व।

"*रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्।*"

—प्रशस्तपादभाष्य

इसलिये गुण की परिभाषा है—वह द्रव्याश्रित पदार्थ जो स्वयं निर्गुण और निष्क्रिय हो।

"*अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः.*"

—भाषापरिच्छेद

शिवादित्य गुण का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—

"*गुणस्तु गुणत्वजातियोगी जातिमत्त्वे सति अचलनात्मकत्वे सति समवायिकारणत्वरहितश्चेति।*"

—सप्तपदार्थी

अर्थात् गुण (१) जातिविशिष्ट, (२) अचलात्मक और (३) *समवायिकारणत्व-रहित* पदार्थ है। जातिविशिष्ट तीन ही पदार्थ हैं—*द्रव्य, गुण* और *कर्म*। इसलिये जातिमत्ता का निर्देश करने से *सामान्य, विशेष, समवाय* और *अभाव*—ये पहले ही छँट जाते हैं। अब रह गये तीन। इनमें अचलनात्मक कहने से कर्म का निरास हो जाता है। बाकी बचे दो। इनमें द्रव्य में समवायि कारण बनने की योग्यता है, क्योंकि उसमें गुण-कर्म समवेत रहते हैं। किन्तु गुण में कुछ समवेत नहीं रहता। इसलिये वह किसी का समवायिकारण नहीं हो सकता। अतएव समवायिकारणत्व रहित कह देने से द्रव्य भी छँट जाता है और परिशेष में केवल गुण मात्र बच रहता है।

गुण के चौबीस प्रभेद—महर्षि कणाद ने गुणों का नामनिर्देश करते हुए यह सूत्र कहा है—

"*रूप[१]रस[२]गन्ध[३]स्पर्शाः[४] संख्याः[५] परिमाणि[६] पृथक्त्वं[७] संयोग[८]-विभागौ[९] परत्वा[१०]परत्वे[११] बुद्धयः[१२] सुखं[१३]-दुःखं[१४] इच्छा[१५]-द्वेषौ[१६] प्रयत्नाश्च[१७] गुणाः।*" (१।१।६)

इस सूत्र में कुल १७ *गुणों* के नाम आये हैं। किन्तु भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य 'च' शब्द से और भी सात गुणों का अध्याहार करते हैं। ये हैं—(१) गुरुत्व (२) द्रवत्व (३) स्नेह (४) धर्म (५) अधर्म (६) शब्द और (७) संस्कार। अतएव कुल मिलाकर २४ गुण माने जाते हैं।

नोट—कुछ लोगों ने (१) लघुत्व (२) मृदुत्व और (३) कठिनत्व—ये और तीन गुण जोड़ने का प्रयास किया, किन्तु यह माननीय नहीं ; क्योंकि लघुत्व गुरुत्व का अभाव मात्र है। और मृदुत्व तथा कठिनत्व अवयवों के संयोगविशेष हैं।*

अब उपर्युक्त चौबीस गुणों में प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

"चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्"

—तर्कसंग्रह

(१) रूप—जो गुण केवल दृष्टि-मात्र से उपलब्ध हो (और-और इन्द्रियों के द्वारा नहीं), वह रूप है। संख्या-परिमाण आदि गुण दर्शनेन्द्रिय के साथ-साथ स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा भी ज्ञात हो सकते हैं। किन्तु रूप एकमात्र दर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। इसलिये इसे *चक्षुर्मात्रग्राह्य* कहा गया है।

नोट—चक्षु के द्वारा रूप के साथ-साथ जाति, कर्म और द्रव्य भी प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु वे गुण नहीं हैं। *चक्षुर्ग्राह्य गुणों में संख्या परिमाण आदि भी आते हैं ; किन्तु वे चक्षुर्मात्रग्राह्य नहीं हैं।* अतएव चक्षुर्मात्रग्राह्य गुण कहने से केवल रूप ही का ग्रहण होता है।

रूप के आधारभूत तीन द्रव्य हैं—(१) *पृथ्वी* (२) *जल* और (३) *अग्नि*। अर्थात् इन्हीं तीनों में रूप पाया जाता है। जल का रूप शुक्ल और अग्नि का रूप भास्वर शुक्ल (चमकीला) है। पृथ्वी में नाना प्रकार के रूप देखने में आते हैं।

शिवादित्य रूप के सात प्रभेद इस प्रकार गिनते हैं—

"रूपं सितलोहितपीतकृष्णहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्"

—सप्तपदार्थी

(१) उजला (२) लाल (३) *पीला* (४) *काला* (५) *हरा* (६) *भूरा* और (७) चितकबरा—ये सात रंग हैं।

---

* ननु लघुत्व कठिनत्व मृदुत्वादीनां विद्यमानत्वात् कथं चतुर्विंशतिर्गुणाः इति चेन्न । लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्-मृदुत्व कठिनत्वयोः अवयवसंयोगविशेषत्वात् ।

जल और अग्नि के रूप नित्य स्थायी रहते हैं। किन्तु पृथ्वी के रूप में अग्नि के संयोग से परिवर्त्तन हो जाता है। इसको *पाकज गुण* कहते हैं।

उपादानकारण में जो रूप रहता है वही कार्य में भी प्रकट होता है। इसलिये कार्यद्रव्य का रूप *कारणद्रव्याधीन* रहता है। कार्य का विनाश हो जाने पर उसका रूप भी नष्ट हो जाता है। अतएव कार्यगत रूप अनित्य है।

किन्तु परमाणुगत रूप नित्य है। उसका कभी विनाश नहीं होता। हाँ, पार्थिव परमाणुओं का रूप पाक के द्वारा बदल जाता है।

(२) रस—

"रसनग्राह्यो गुणो रसः"

जो रसना (जिह्वा) के द्वारा आस्वादित किया जाय वह '*रस*' कहलाता है। रस छः प्रकार का माना गया है—

(१) मधुर (*मीठा*), (२) अम्ल (*खट्टा*), (३) लवण (*नमकीन*), (४) कटु (*कड़वा*), (५) कषाय (*कसैला*), (६) तिक्त (*तीता*)।

नोट—शिवादित्य रस का एक सातवाँ प्रभेद भी मानते हैं। वह है 'चित्र' *। कुछ वस्तुओं का स्वाद ऐसा विचित्र होता है जो उपर्युक्त षड्रसों में किसी के अन्तर्गत नहीं आता। उन्हींके लिये यह वर्ग कायम किया गया है।

रस की वृत्ति पृथ्वी और जल—इन दो द्रव्यों में है। जल में केवल मधुर रस तथा पृथ्वी में सभी प्रकार के रस पाये जाते हैं।

(३) गन्ध—

"घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः"

जो नाक के द्वारा सूँघा जाय वह '*गन्ध*' कहलाता है। यह गुण केवल पृथ्वी में ही रहता है, और किसी द्रव्य में नहीं। गन्ध के दो प्रभेद हैं—(१) *सुगन्ध* और (२) *दुर्गन्ध*।

(४) स्पर्श—

"त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः"

केवल त्वचा मात्र के द्वारा जिस गुण का ज्ञान हो वह '*स्पर्श*' कहलाता है।

---

* रसोऽपि मधुरतिक्तकटुकषायाम्ललवणचित्रभेदात् सप्तविधः। —सप्तपदार्थी

स्पर्श तीन प्रकार का होता है—(१) *शीत* (*ठंढा*), (२) *उष्ण* (*गर्म*) और (३) *अनुष्णशीत* (*न ठंढा न गर्म*)।

स्पर्श की वृत्ति पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु में है। जल का स्पर्श शीतल और अग्नि का स्पर्श उष्ण होता है। पृथ्वी और वायु का स्पर्श अनुष्णशीत होता है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चारों गुण आश्रय के भेद से नित्य और अनित्य दोनों कहे जा सकते हैं। परमाणुगत रूप रस आदि नित्य हैं और कार्यद्रव्यस्थ रूप रस आदि अनित्य हैं।

नोट—किन्तु पृथ्वी के परमाणुओं के साथ यह बात नहीं है। पार्थिव परमाणुओं के रूप, रस आदि अक्षुण्ण नहीं रहते ; अग्नि के संयोग से विनष्ट हो जाते हैं। इनके स्थान में नवीन पाकज गुणों का प्रादुर्भाव होता है। अतः पृथ्वी के रूप रस आदि गुण—चाहे वे परमाणुगत हों या कार्यगत—अनित्य ही होते हैं। *

(५) शब्द—

"श्रोत्रग्राह्योगुणः शब्दः"

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गुण का नाम 'शब्द' है। शब्द आकाश का गुण है। यह संयोग, विभाग या शब्दान्तर से प्रसूत, और क्षणिक होता है।

शब्द दो प्रकार का होता है—

(१) वर्णात्मक—जो कण्ठ-तालु आदि से उच्चरित हो। जैसे—अ, क, आदि।

(२) ध्वन्यात्मक—जो अस्फुट ध्वनिमात्र हो। जैसे—शंख की आवाज।

वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है। वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होने पर वक्ता के प्रयत्न से आत्मा का वायु के साथ संयोग होता है। तब वायु में कर्म उत्पन्न होता है। वह (वायु) ऊपर की ओर जाता है और कण्ठ-तालु आदि के साथ उसका सम्पर्क होता है। उच्चारणस्थान (कण्ठ, आदि) के आकाश से इस वायु का संयोग होने पर वर्ण की उत्पत्ति होती है।

ध्वन्यात्मक शब्द भी संयोग या विभाग के द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे ढोल में लकड़ी का संयोग होने से अथवा बाँस की दोनों फाँकों का विभाग होने से शब्द उत्पन्न होता है।

---

* रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्र अपाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्।

—तर्कसंग्रह

एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न कर स्वयं विलीन हो जाता है। फिर दूसरा शब्द तीसरे को उत्पन्न करता है, तीसरा चौथे को। अनुवर्त्ती शब्द क्रमशः क्षीण होते-होते अन्त में विलीन हो जाते हैं। शब्दों के इस धारावाहिक प्रवाह को *'सन्तान'* कहते हैं।

(६) संख्या—

"एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या"

जिस गुण के कारण एक, दो, आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है उसे *'संख्या'* कहते हैं। अथवा यों कहिये कि जिसके आधार पर गणना की जाती है, वही 'संख्या' है।

"गणनव्यवहारे तु हेतुः संख्याभिधीयते"

—भाषापरिच्छेद

संख्या की वृत्ति सभी द्रव्यों में है। अर्थात् कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं जिसमें संख्या गुण मौजूद नहीं हो।

संख्या एक से लेकर परार्द्ध तक मानी गई है। एकत्व नित्य और अनित्य दोनों हैं। परमाणु आदि नित्य पदार्थों में जो एकत्व है वह नित्य है। इसके विपरीत घट आदि अनित्य पदार्थों में जो एकत्व है वह अनित्य है*। द्वित्व आदि संख्याएँ सर्वत्र ही अनित्य होती हैं। क्योंकि इनका ज्ञान अपेक्षाबुद्धि के द्वारा होता है। पहले हमें एक घट का ज्ञान होता है। फिर दूसरे घट का ज्ञान होता है। तब हम मन में जोड़ते हैं—*अयमेकः अयमेक आहृत्य द्वौ*—अर्थात् *एक यह और एक यह मिलाकर* दो। इसीका *अपेक्षाबुद्धि* नाम है।

"अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते"

—भा० प०

प्रत्येक घट में अपना एकत्व है। जब हम दोनों को मिलाते हैं तब द्वित्व का भाव आता है।

अर्थात् द्वित्व गुण निरपेक्ष नहीं है। यह अपेक्षाबुद्धि पर निर्भर करता है। इस प्रकार सभी अनेकत्वसूचक संख्याएँ अपेक्षाबुद्धिज (Relative) हैं।

"द्वित्वादयः परार्धान्ताः अपेक्षाबुद्धिजा मताः"

—भा० प०

---

* नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते।

—भा० प०

दो से लेकर परार्द्ध तक की संख्याएँ बुद्ध्यपेक्ष हैं। अर्थात् इनका अस्तित्व अपेक्षाबुद्धि पर निर्भर करता है। जब अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है, तब इनका भी विनाश हो जाता है।

"अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः"

—भा० प०

(७) परिमाण—

"मानव्यवहारकारणं परिमाणम्"

जिस गुण के आधार पर माप की जाती है उसे *परिमाण* कहते हैं।
संख्या की तरह परिमाण की वृत्ति भी सभी द्रव्यों में है।

परिमाण के ये भेद माने जाते हैं— (१) अणु (२) महत् (३) ह्रस्व और (४) दीर्घ।

नोट—अणु का अर्थ है छोटा और महत् का अर्थ है बड़ा। ह्रस्व और दीर्घ के भी क्रमशः ये ही अर्थ हैं। अतः परिमाण के दो ही भेद ठहरते हैं। चार विभाग करने का उद्देश्य नहीं जान पड़ता।

परिमाण भी आश्रय-भेद से नित्य और *अनित्य* दोनों होता है। परमाणुओं का परिमाण (**पारिमाण्डल्य**) नित्य होता है। आकाश जैसे सर्वव्यापी पदार्थों का परिमाण (**परममहत्त्व**) भी नित्य होता है। इन दोनों के मध्यवर्त्ती जितने परिमाण हैं वे अनित्य होते हैं। आश्रय-विनाश के साथ ही उनका भी विनाश हो जाता है।

परिमाण की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—*

(१) **संख्या के द्वारा**—यथा द्व्यणुक, त्र्यणुक में।

(२) **परिमाण के द्वारा**—अवयवों के परिमाण से अवयवी का परिमाण बनता है। जैसे कपालादि के परिमाण से घट का परिमाण। अणुक से ऊपर और विभु के नीचे-सभी परिमाण इसी कोटि में आते हैं।

(३) **प्रचय के द्वारा**—अर्थात् अवयवों के शैथिल्य या फैलाव से परिमाण बढ़ता है। जैसे रुई के गोले में।

---

* संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते।
अनित्यं द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम्॥
परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते।
प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते।

—भा० प०

(१०) विभाग—संयोग अनित्य है और उसका विनाश विभाग के द्वारा होता है।

"संयोगनाशको गुणो विभागः"

जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है उसे *'विभाग'* कहते हैं। जो पदार्थ पहले आपस में सयुक्त थे, उनका अलग-अलग हो जाना ही विभाग है। इसलिये प्रशस्तपाद कहते हैं—

"प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः"

संयोग की तरह विभाग भी तीन प्रकार का माना गया है—

(१) *अन्यतरकर्मज*—जहाँ एक पक्ष की क्रिया से विभाग होता है। जैसे—पेड़ पर बैठा हुआ कौआ उड़ जाता है। यहाँ पेड़ निष्क्रिय है। केवल कौए के कर्म से विभाग होता है।

(२) *उभयकर्मज*—जहाँ दोनों पदार्थों की क्रिया से विभाग होता है। जैसे—एक साथ सटकर बैठे हुए दो पक्षी दो भिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं। यहाँ दोनों पक्षियों के कर्म से विभाग होता है।

(३) *विभागज*—जहाँ एक विभाग होने से दूसरा विभाग भी हो जाता है। जैसे—किसी डाल से पत्ता गिरने पर शाखा के साथ-साथ वृक्ष से भी पत्ते का विभाग हो जाता है।

(११-१२) परत्व और अपरत्व—

*"परापर व्यवहारसाधारण * कारणे परत्वापरत्वे"*

'वह दूर है' 'यह समीप है' ऐसा प्रयोग जिन गुणों के कारण किया जाता है, वे क्रमश *'परत्व'* और *'अपरत्व'* कहलाते हैं।

परत्वापरत्व दो प्रकार के होते हैं—

(१) *दैशिक*—जिसका देश यानी स्थान से सम्बन्ध हो। यहाँ 'पर' का अर्थ है दूरदेशीय, और 'अपर' का अर्थ है निकट देशीय। सूर्य में *'परत्व'* है, क्योंकि वह बहुत दूर

* दिक्, काल, ईश्वर और अदृष्ट ये सब सभी कार्यों के सामान्य कारण है। अत इनसे भिन्न विशेष कारण को असाधारण कारण कहते है।

देश में अवस्थित है। पार्श्ववर्त्ती दीपक में 'अपरत्व' है, क्योंकि हमारे उसके बीच बहुत ही कम दिक् का अन्तराल है।

(२) कालिक—जिसका काल यानी समय से सम्बन्ध हो। यहाँ 'पर' का अर्थ है—दूरकालीन और अपर का अर्थ है—समीपकालीन। वैशेषिक-सूत्र को बीते हुए बहुत काल हो चुका। वर्त्तमान समय से वह बहुत बड़े अन्तर पर है। अतः उसे 'पर' कहेंगे। प्रस्तुत पुस्तक हाल की बनी है। अतः इसे 'अपर' कहेंगे।

नोट—एकही पदार्थ देश की दृष्टि से 'पर' और काल की दृष्टि से 'अपर' कहा जा सकता है। जैसे—कोई शिशु हमसे बहुत दूरी पर है। वहाँ शिशु स्थान में 'पर' होते हुए भी काल में 'अपर' ही है। इसके विपरीत मान लीजिये कोई वृद्ध व्यक्ति आपके पास बैठा है। उसमें दैशिक 'अपरत्व' होते हुए भी कालिक 'परत्व' है।

परत्वापरत्व की वृत्ति पृथ्वी आदि चार भूतों तथा मन में है। दैशिक परत्वापरत्व केवल मूर्त्त द्रव्यों में होते हैं और कालिक परत्वापरत्व केवल जन्य द्रव्यों में।

परत्वापरत्व सापेक्ष होते हैं। अपेक्षा-बुद्धि पर उनका अस्तित्व निर्भर करता है। अतः वे नित्य नहीं हैं।

(१३) गुरुत्व—

"आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्"

जिस गुण के कारण किसी वस्तु का स्वाभाविक पतन (नीचे गिरना) होता है उसे 'गुरुत्व' कहते हैं।

जब हम ऊपर से कूदते हैं तब हम नीचे गिर पड़ते हैं। किन्तु यह गिरना स्वाभाविक नहीं, वेगजनित है। बिना वेग के जो पतन होता है, वह केवल गुरुत्व के कारण।

संयोग के द्वारा भी पतन होता है। जैसे—ऊपर जाता हुआ गेंद कोई रुकावट पाकर, जैसे—हाथ के साथ संयोग होने पर, नीचे गिर पड़ता है। किन्तु संयोग केवल पतन का ही नहीं, अपितु और-और क्रियाओं का भी कारण है। अतः इसे *सामान्य कारण* समझना चाहिये। किन्तु 'गुरुत्व' एकमात्र पतन क्रिया का कारण है। इसलिये इसे *विशेष या असाधारण कारण* समझना चाहिये। अतएव पदार्थचन्द्रिका में गुरुत्व का यह लक्षण भी मिलता है—

"एकवृत्तिपतनासाधारणकारणं गुरुत्वम्"

गुरुत्व की वृत्ति पृथ्वी और जल में है। गुरुत्व अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) है। केवल पतन क्रिया के द्वारा इसका अनुमान किया जाता है।

(८) पृथक्त्व—

"पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वम्"

'यह उससे अलग है' ऐसा ज्ञान जिस आधार पर होता है उसे *पृथक्त्व* कहते हैं। अर्थात् जिस गुण के कारण वस्तुओं की भिन्नता निरूपित होती है उसी का नाम *पार्थक्य* है।

पार्थक्य एक ही तरह का होता है। इसकी वृत्ति सभी द्रव्यों में है।

पृथक्त्व भी आश्रय के अनुरूप *नित्य* या *अनित्य* होता है। जैसे दिक्-काल का पृथक्त्व नित्य और घट-पट का पृथक्त्व अनित्य है।

नोट—रघुनाथशिरोमणि प्रभृति नवीन नैयायिक पृथक्त्व को खास गुण नहीं मानते। वे इसे अन्योन्याभाव के अन्तर्गत ले आते हैं। किन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो पृथक्त्व और अन्योन्याभाव एक चीज नहीं हैं। अन्योन्याभाव का उदाहरण होगा—घटः पटो न (घट पट नहीं है)। पृथक्त्व का उदाहरण होगा—घट पटात् पृथक् (घट पट से भिन्न है)। पहला वाक्य अभावात्मक (Negative) है और दूसरा भावात्मक (Positive)। पृथक्त्व से दोनों पदार्थों की सत्ता सूचित होती है। अतः इसे अभाव का प्रभेद समझना युक्तिसगत नहीं। *

'*रूप घट नहीं है।*' यह अन्योन्याभाव हुआ। किन्तु इसका अर्थ *यह नहीं कि* '*रूप घट से पृथक् है।*' रूप घट नहीं होते हुए भी घट से अपृथक् है।

अतः अन्योन्याभाव और पृथक्त्व— ये दोनों एकार्थवाची शब्द नहीं हैं।

(९) संयोग—

"*संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः*"

'*यह पदार्थ उसके साथ संयुक्त है*' ऐसा प्रयोग करना जिस आधार पर अवलम्बित है, उसे *संयोग* कहते हैं। संयोग दो वस्तुओं का बाह्य सम्बन्ध है। अर्थात् जो पदार्थ पहले से सम्बद्ध नहीं थे उनका समय विशेष मे परस्पर मिल जाना *संयोग* कहलाता है। भाषा परिच्छेदकार कहते हैं—

"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।"

---

* अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते।
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा।
—भा० प०

संयोग तीन प्रकार का होता है *—

(१) *अन्यतरकर्मज*— जहाँ एक पक्ष आकर दूसरे से मिल जाता है। जैसे—पक्षी उड़कर पहाड़ की चोटीपर जा बैठता है। यहाँ एक पक्ष (पर्वत) स्थायी (निश्चल) रहता है और दूसरा कर्मशील। दूसरे का कर्म ही संयोग का कारण होता है। अतः इस संयोग को *अन्यतर-कर्मज* कहते हैं।

(२) *उभयकर्मज*—जहाँ दोनों पक्षों की क्रिया से संयोग होता है। जैसे—दो भेड़ें दो ओर से दौड़कर आपस मे टकराती हैं। इस संयोग का नाम *उभयकर्मज* है।

नोट—कर्मज संयोग मात्रा (Degree) के भेद से दो प्रकार का होता है। जोर से—शब्द के साथ—जो संयोग होता है उसे 'अभिघात' और धीरे से बिना शब्द के जो संयोग होता है, उसे 'नोदन' कहते हैं।

(३) *संयोगज*— जहाँ एक संयोग से दूसरा संयोग हो जाता है। जैसे—कपाल (घट का अंगविशेष) का वृक्ष के साथ संयोग होने से घट और वृक्ष का संयोग हो जाता है।

संयोग के लिये दो पदार्थों का होना आवश्यक है। बिना दो के संयोग नहीं हो सकता और दोनों पदार्थों की युतसिद्धि के बिना संयोग होना असंभव है। अर्थात् संयोग उन्हीं पदार्थों का हो सकता है जो पहले एक दूसरे से पृथक् थे। क्रियाविशेष के द्वारा उनका एकत्रीभाव हो जाना (जुट जाना ही) संयोग कहलाता है। अतएव सर्वव्यापी पदार्थों का आपस मे संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि उनकी व्याप्ति सर्वत्र होने के कारण किसी देश मे उनका अभाव नहीं माना जा सकता और, इसलिये वे कभी एक दूसरे से पृथक् थे, ऐसा कहना असङ्गत है। और, जब वे कभी पृथक् थे ही नहीं तब उनका एकत्रीभाव वा संयोग (समयविशेष मे) कैसे होगा ?

---

* कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः।
तथोभयस्पन्दजन्यो भवेत् संयोगजोऽपरः।
आदिम श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्त्तितः।
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः।
कपालतरुसंयोगात् संयोगस्तरुकुम्भयोः।
तृतीयः स्यात् कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्त्तितः।
अभिघातो नोदनं च शब्दहेतु रिहादिमः।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि भारी वस्तु उठाने पर गुरुत्व का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अतः यह स्पर्शग्राह्य है। किन्तु इसके उत्तर में न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि यदि गुरुत्व स्पर्शग्राह्य होता तो केवल छूने मात्र से ही भार का ज्ञान हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। बोझ उठाने पर हाथ वगैरह पर जो दबाव पड़ता है वही गुरुत्व का परिचायक है।

(१४) द्रवत्व—

"आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्"

जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं।

द्रवत्व दो प्रकार का होता है—

(१) *सांसिद्धिक* अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व। जैसे—जल में।

(२) *नैमित्तिक* अर्थात् कारणविशेष से प्रसूत द्रवत्व। जैसे—मोम अग्नि का संयोग पाकर पिघल जाता है। अतः मोम में नैमित्तिक द्रवत्व है।

द्रवत्व तीन द्रव्यों में पाया जाता है—*जल, पृथ्वी* और *अग्नि* में। जल में स्वाभाविक द्रवत्व है। पार्थिव वस्तुओं का द्रवत्व कृत्रिम होता है। सो भी केवल खास-खास वस्तुओं में पाया जाता है, सभी में नहीं। घी, मोम, लाख, राँगा, आदि वस्तुएँ आग में पिघलकर बहती हैं। स्वर्ण आदि तैजस धातुओं के साथ भी यही बात है।*

(१५) स्नेह—

"चूर्णादिपिण्डीभावहेतुः गुणः स्नेहः"

जिस गुण के द्वारा किसी चूर्ण या बुकनी (जैसे मिट्टी, सत्तू आदि) को सानकर गोला बनाया जा सकता है, उसे स्नेह कहते हैं।

स्नेह के कारण ही किसी वस्तु में संग्रह (पिण्डीभाव अर्थात् पिण्ड बन जाना) और चिकनाहट पाये जाते हैं।

स्नेह केवल जल का गुण है। तेल, घी आदि पार्थिव वस्तुओं में भी स्नेह के लक्षण पाये जाते हैं। किन्तु यह तेल-घी के जलीय अंश का धर्म है।

---

* "सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्"

—वै० सू० २।१।६

"त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्"

—वै० सू० २।१।७

पिण्डीभाव को द्रवत्व ही का लक्षण क्यों नहीं माना जाय ? इसके लिये स्नेह नामक विशेष गुण मानने की क्या जरूरत है ? इसके उत्तर में वैशेषिकगण कहेंगे कि द्रवत्व और पिण्डीभाव में कारणकार्य सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा रहता तो जितना ही अधिक द्रवत्व होता उतना ही अधिक पिण्डीभाव देखने में आता। किन्तु ऐसा नहीं होता। किसी बुकनी में यथोचित मात्रा में पानी देने से ढेला बन जा सकता है। किन्तु उसपर घड़ा-भर पानी उँड़ेल देने से बुकनी का पिण्डीभाव नहीं होगा, बल्कि वह भी पानी के साथ मिलकर बहने लगेगी। इसलिये पिण्डीभाव का द्रवत्व से कुछ भिन्न कारण मानना पड़ेगा। इसी का नाम स्नेह है।

(१६) संस्कार—

संस्कार के तीन प्रभेद बतलाये गये हैं—

(१) भावना, (२) वेग और (३) स्थितिस्थापक।*

(१) भावना—आत्मा का गुण है। यही स्मरण और प्रत्यभिज्ञान का कारण है। अर्थात् पूर्वानुभूत विषयों की स्मृति वा पहचान संस्कार के द्वारा ही होती है। प्रतिकूल ज्ञान, मद और दुःखादि इसके विरोधी हैं। जैसे—उन्मत्त वा शोकग्रस्त मनुष्य का स्मृतिज्ञान लुप्त हो जाता है।

संस्कार के सहायक तीन प्रत्यय होते हैं—

(१) पटुप्रत्यय—जहाँ अनुभूत विषय आश्चर्यजनक हो। जैसे, कोई बालक ऊँट को देखकर चकित होता है। ऐसी अवस्था में प्रबल संस्कार बँध जाता है।

(२) अभ्यासप्रत्यय—अभ्यास के द्वारा भी संस्कार में तीव्रता आती है। निरन्तर विद्या, व्यायाम वा शिल्पकला का अभ्यास करते-करते स्मृति बलवती हो जाती है।

(३) सादरप्रत्यय—अपूर्व सुन्दर वस्तु को देखने से आदर का भाव जागृत हो उठता है और वह संस्कार बलवान् होता है। जैसे, रंगबिरंगी कमलों से सुशोभित रमणीय सरोवर को देखने पर।

(२) वेग—मूर्त्तिमान् द्रव्यों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा मन में) कारण-विशेष से वेग उत्पन्न होता है। इसीके द्वारा किसी नियत दिशा में गतिप्रवाह (क्रिया-प्रबन्ध) होता है। स्पर्शवान् द्रव्य इसके मार्ग में अवरोधक होते हैं।

---

* "कर्मजः संस्कारो वेगः। ज्ञानजः संस्कारो भावना।
स्थितस्थापादको गुणः संस्कारः स्थितिस्थापकः।"
—सप्तपदार्थी

यहाँ यह कहा जा सकता है कि भारी वस्तु उठाने पर गुरुत्व का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अत यह स्पर्शग्राह्य है। किन्तु इसके उत्तर में न्यायकन्दलीकार कहते हैं कि यदि गुरुत्व स्पर्शग्राह्य होता तो केवल छूने मात्र से ही भार का ज्ञान हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। बोझ उठाने पर हाथ वगैरह पर जो दबाव पड़ता है वही गुरुत्व का परिचायक है।

(१४) द्रवत्व—

- "आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्"

जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं।

द्रवत्व दो प्रकार का होता है—

(१) सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व। जैसे—जल में।

(२) नैमित्तिक अर्थात् कारणविशेष से प्रसूत द्रवत्व। जैसे—मोम अग्नि का सयोग पाकर पिघल जाता है। अत मोम में नैमित्तिक द्रवत्व है।

द्रवत्व तीन द्रव्यों मे पाया जाता है—जल, पृथ्वी और अग्नि में। जल में स्वाभाविक द्रवत्व है। पार्थिव वस्तुओं का द्रवत्व कृत्रिम होता है। सो भी केवल खास-खास वस्तुओं में पाया जाता है, सभी में नहीं। घी, मोम, लाख, राँगा, आदि वस्तुएँ आग मे पिघलकर बहती हैं। स्वर्ण आदि तैजस धातुओं के साथ भी यही बात है।*

(१५) स्नेह—

'चूर्णादिपिण्डीभावहेतु. गुणः स्नेहः"

जिस गुण के द्वारा किसी चूर्ण या बुकनी (जैसे मिट्टी, सत्तू आदि) को सानकर गोला बनाया जा सकता है, उसे स्नेह कहते हैं।

स्नेह के कारण ही किसी वस्तु में सग्रह (पिण्डीभाव अर्थात् पिण्ड बन जाना) और चिकनाहट पाये जाते हैं।

स्नेह केवल जल का गुण है। तेल, घी आदि पार्थिव वस्तुओं में भी स्नेह के लक्षण पाये जाते हैं। किन्तु यह तेल-घी के जलीय अश का धर्म है।

---

* सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भि: सामान्यम्'
—वै० सू० २।१।६

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसयोगाद्द्रवत्वमद्भि: सामान्यम्
—वै० सू० २।१।७

पिण्डीभाव को द्रवत्व ही का लक्षण क्यों नहीं माना जाय ? इसके लिये स्नेह नामक विशेष गुण मानने की क्या जरूरत है ? इसके उत्तर में वैशेषिकगण कहेंगे कि द्रवत्व और पिण्डीभाव में कारणकार्य सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा रहता तो जितना ही अधिक द्रवत्व होता उतना ही अधिक पिण्डीभाव देखने में आता। किन्तु ऐसा नहीं होता। किसी बुकनी में यथोचित मात्रा में पानी देने से ढेला बन जा सकता है। किन्तु उसपर घड़ा-भर पानी उँड़ेल देने से बुकनी का पिण्डीभाव नहीं होगा, बल्कि वह भी पानी के साथ मिलकर बहने लगेगी। इसलिये पिण्डीभाव का द्रवत्व से कुछ भिन्न कारण मानना पड़ेगा। इसी का नाम स्नेह है।

(१६) संस्कार—

संस्कार के तीन प्रभेद बतलाये गये हैं—

(१) भावना, (२) वेग और (३) स्थितिस्थापक।*

(१) भावना—आत्मा का गुण है। यही स्मरण और प्रत्यभिज्ञान का कारण है। अर्थात् पूर्वानुभूत विषयों की स्मृति वा पहचान संस्कार के द्वारा ही होती है। प्रतिकूल ज्ञान, मद और दुःखादि इसके विरोधी हैं। जैसे—उन्मत्त वा शोकग्रस्त मनुष्य का स्मृतिज्ञान लुप्त हो जाता है।

संस्कार के सहायक तीन प्रत्यय होते हैं—

(१) पटुप्रत्यय—जहाँ अनुभूत विषय आश्चर्यजनक हो। जैसे, कोई बालक ऊँट को देखकर चकित होता है। ऐसी अवस्था में प्रबल संस्कार बँध जाता है।

(२) अभ्यासप्रत्यय—अभ्यास के द्वारा भी संस्कार में तीव्रता आती है। निरन्तर विद्या, व्यायाम वा शिल्पकला का अभ्यास करते-करते स्मृति बलवती हो जाती है।

(३) सादरप्रत्यय—अपूर्व सुन्दर वस्तु को देखने से आदर का भाव जागृत हो उठता है और वह संस्कार बलवान् होता है। जैसे, रंगबिरंगी कमलों से सुशोभित रमणीय सरोवर को देखने पर।

(२) वेग—मूर्तिमान् द्रव्यों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा मन में) कारण-विशेष से वेग उत्पन्न होता है। इसीके द्वारा किसी नियत दिशा में गतिप्रवाह (क्रिया-प्रबन्ध) होता है। स्पर्शवान् द्रव्य इसके मार्ग मे अवरोधक होते हैं।

---

* "कर्मजः सस्कारो वेग.। ज्ञानज. संस्कारो भावना।
स्थिरस्थापादको गुण. सस्कारः स्थितिस्थापकः।"
—सप्तपदार्थी

(३) *स्थितिस्थापक*—इस गुण के कारण पदार्थों के अवयव स्थानच्युत हो जाने पर पुनः अपने स्वाभाविक स्थान में आ जाते हैं। जैसे—वृक्ष की शाखा को झुका दीजिये, वह नीचे चली आयगी। किन्तु उसे छोड़ दीजिये। वह फिर तुरत ही अपने स्थान पर जा पहुँचेगी। इसी तरह धनुष के बारे में भी समझ लीजिये। इस गुण को *स्थितिस्थापक* कहते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि यह गुण केवल पृथ्वी में ही रहता है। किन्तु कुछ लोग इसे सभी स्पर्शवान् द्रव्यों में मानते हैं।

(१७) बुद्धि—

"*सर्वव्यवहारहेतुः ज्ञानं बुद्धिः*"

—तर्कसंग्रह

बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान ही शब्दमात्र के व्यवहार का मूल कारण है। कहा भी है—'*अर्थं बुद्ध्वा शब्दरचना*'। अतः ज्ञान या बुद्धि को *सर्वव्यवहारहेतु* कहा गया है।

अन्नम्भट्ट बुद्धि की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"*जानामीत्यनुव्यवसायगम्यं ज्ञानत्वमेव लक्षणम् इति भावः।*"

—तर्कसंग्रहदीपिका

अर्थात् बुद्धि का असाधारण धर्म (विशिष्ट गुण) है '*ज्ञानत्व*'। यह ज्ञानत्व जाति है क्या? जब हम घट या पट को देखते हैं तब '*अयं घटः*' (यह घट है), '*अयं पटः*' (यह पट है), ऐसा ज्ञान '*व्यवसाय*' कहलाता है।

जब हम यह भी अनुभव करते हैं कि '*घटमहं जानामि*' (हमें घट का ज्ञान प्राप्त हो रहा है), '*पटमहं जानामि*' (हमें पट का ज्ञान प्राप्त हो रहा है), तब ऐसे ज्ञान को '*अनुव्यवसाय*' कहते हैं।

विषय का ज्ञान व्यवसाय है, और व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। व्यवसायात्मक ज्ञान बहिर्मुख होता है, अनुव्यवसायात्मक ज्ञान *अन्तर्मुख*। व्यवसाय और अनुव्यवसाय की सामान्य जाति है '*ज्ञानत्व*'। यह 'ज्ञानत्व' जिसमें हो वही बुद्धि है। यह जातिघटित लक्षण है।

न्याय वैशेषिक में बुद्धि, *ज्ञान*, उपलब्धि और *प्रत्यय*—ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। गौतम कहते हैं—

"*बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्*"

—न्या॰ सू॰ (१।१।१५)

वात्स्यायन, वाचस्पति तथा उदयनाचार्य प्रभृति समझाते हैं कि इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने सांख्यमत का खण्डन किया है क्योंकि सांख्य बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि को भिन्न-भिन्न मानता है। अतः न्याय-वैशेपिककार इनकी एकता पर जोर देते हैं। प्रशस्तपाद भी कहते हैं—

"*बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः*"

शिवादित्य बुद्धि की परिभाषा में कहते हैं—

"*...आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिः*"

—सप्तपदार्थी

बुद्धि *प्रकाशात्मिका* है। किन्तु यह *आत्माश्रित* भी है। अतएव इस लक्षण में सूर्य या दीप का प्रकाश नहीं आ सकता। आत्माश्रित और-और भी गुण हैं; जैसे, सुख, दुःख इत्यादि। किन्तु वे प्रकाशात्मक नहीं है। अतएव इस लक्षण से उनका ग्रहण नहीं होता।

ज्ञान या बुद्धि के दो प्रभेद हैं—

(१) अनुभव (Cognition)

(२) स्मृति (Recollection)

अनुभव—जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार की जानना ही यथार्थ अनुभव है।

"*तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः*"

—तर्कसंग्रह

इसीको '*प्रमा*' कहते हैं। शिवादित्य ने लिखा है—

"*तत्त्वानुभवः प्रमा*"

—सप्तपदार्थी

अनुभव मुख्यतः दो प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष और (२) *लैङ्गिक*। इन्द्रियों के द्वारा जो प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। लिङ्ग (चिह्न) को देखकर जो अनुमान किया जाता है वह *लैङ्गिक* ज्ञान (अनुमिति) कहलाता है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियाँ स्वतः अगोचर हैं। अतएव वे ज्ञान का साधन होते हुए भी स्वयं *अज्ञेय* हैं। अतएव *सप्तपदार्थी* में प्रत्यक्षानुभव की यह परिभाषा की गई है—

"अज्ञायमानकरणजन्य स्तत्त्वानुभवः प्रत्यक्षप्रमा"

इसके विपरीत अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें साधन प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। धूम को देखकर वह्नि का अनुमान किया जाता है। यहाँ अनुमिति का साधन धूम स्वतः ज्ञायमान है। अत अनुमिति की परिभाषा की गई है—

"ज्ञायमानकरणजन्यस्तत्त्वानुभवोऽनुमितिःप्रमा"

—स० प०

(१) प्रत्यक्ष—भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं। नेत्र के द्वारा जो रूप का ज्ञान होता है वह 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष है। कर्ण के द्वारा जो शब्द की उपलब्धि होती है, वह 'श्रोत्रज' प्रत्यक्ष है। नासिका के द्वारा जो गन्ध का ज्ञान होता है, वह घ्राणज प्रत्यक्ष है। जिह्वा के द्वारा जो रस का अनुभव प्राप्त होता है, वह रासन प्रत्यक्ष है। त्वचा के द्वारा जो स्पर्श का ज्ञान होता है वह त्वाचिक प्रत्यक्ष है। मन के द्वारा जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूँ) आदि का ज्ञान होता है वह मानस प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की दो अवस्थाएँ होती हैं। जिस प्रत्यक्ष में केवल वस्तु के स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है उसे 'निर्विकल्पक' (Indeterminate) कहते हैं। जिस प्रत्यक्ष में वस्तु के विशिष्ट गुण का ग्रहण होता है, उसे 'सविकल्पक' (Determinate) कहते हैं।

"वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं निर्विकल्पम्।"
"विशिष्टस्यग्रहणं सविकल्पम्।"

—सप्तपदार्थी

(२) अनुमिति—अनुमान के पाँच अवयव होते हैं—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन। अनुमिति के लिये व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान होना आवश्यक है।

नोट—अनुमिति का साङ्गोपाङ्ग वर्णन न्यायदर्शन में किया गया है। इस विषय में वैशेषिक का भी प्रायशः वही मत है जो न्याय का। अतएव यहाँ विस्तारभय से पृथक् वर्णन नहीं किया जाता।

(३) स्मृति—पूर्वानुभव के संस्कार (Impression) से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'स्मृति' कहते हैं—

"संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः"

—त० सं०

प्रत्यभिज्ञा (Recognition) भी पूर्व-संस्कार के कारण होती है। आप देवदत्त को देखकर पहचान जाते हैं। क्यों ? इसीलिये कि आप पहले उसे देख चुके हैं। दुबारा देखने पर आप मन में कहते हैं—*"यह वही है जिसको मैंने पहले देखा था।"* बिना पूर्व संस्कार के प्रत्यभिज्ञा (पहचान) नहीं हो सकती।

किन्तु *स्मृति* और *प्रत्यभिज्ञा* में भेद है। प्रत्यभिज्ञा के लिये दो वस्तुएँ आवश्यक हैं—

(१) इदंता—('यह देवदत्त') जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।

(२) तत्ता—('वही देवदत्त') जिसका ज्ञान संस्कार के द्वारा होता है।

अतः प्रत्यभिज्ञा *प्रत्यक्ष* और *संस्कार* दोनों के सहयोग से होती है। किन्तु स्मृति में प्रत्यक्ष का योग नहीं रहता। केवल भावना-संस्कारवश अप्रत्यक्ष वस्तु का जो ज्ञान होता है, उसे *स्मृति* कहते हैं। अतः शिवादित्य स्मृति का लक्षण बतलाते हैं—

"भावनासाधारणकारणं ज्ञानं स्मृतिः"

देवदत्त के परोक्षत्व में केवल भावनावश जो देवदत्त का ज्ञान आपके मन में उठता है, वह *'स्मृति'* है। देवदत्त के प्रत्यक्षत्व में जो अतीत दर्शन का ज्ञान आपके मन में जगता है व 'प्रत्यभिज्ञान' है।

"प्रतीतावच्छिन्नवस्तुमहणं प्रत्यभिज्ञानम्"

—स० प०

अनुभव दो प्रकार का होता है—(१) *'यथार्थ'* और (२) *'अयथार्थ'*। यथार्थ अनुभव को *'प्रमा'*, और अयथार्थ अनुभव को *'अप्रमा'* कहते हैं।

"अतत्त्वानुभवः अप्रमा"

—स० प०

जहाँ जो वस्तु यथार्थतः नहीं हो उसे वहाँ समझना ही *अयथार्थ-अनुभव* (Erroneous Cognition) है।

"तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः अयथार्थः"

—त० सं०

जैसे *मृगमरीचिका* में जल नहीं रहते हुए भी जल का आभास मालूम पड़ता है। इसी भ्रान्त ज्ञान को *'अप्रमा'* कहते हैं।

अप्रमा के भी मुख्य दो भेद माने गये हैं— (१) *संशय* और (२) *विपर्यय*।

(१) *संशय* (*Doubt*)—

"अनवधारणं ज्ञानं संशयः"

—स० प०

जहाँ किसी पदार्थ का अवधारण या निश्चय नहीं हो, वहाँ *'संशय'* या *'अनिश्चय'* कहा जाता है। जैसे, वह वृक्ष है या भूत ? यहाँ एक ही वस्तु में दो भिन्न-भिन्न विरोधी गुणों का—वृक्षत्व और भूतत्व का—आरोप किया जाता है और इन दोनों कोटियों में कौन-सा ठीक है—इसका निश्चय नहीं होता। ऐसी अवस्था में चित्त दोलायमान रहता है और किसी निर्णय पर नहीं पहुँचता। ऐसे ही संदिग्ध अनुभव को *संशय* कहते हैं। इसलिये तर्कसंग्रहकार का कहना है—

"एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः।"

यदि सन्दिग्ध कोटियों में एक को प्रबल मान कर उसका *अवलम्बन* किया जाय तो वह 'ऊह' कहलाता है।

"उत्कटैककोटिकः संशयः ऊहः"

—स० प०

जैसे, 'हो न हो यह पेड ही है, क्योंकि भूत रहता तो इतनी देर से उसी स्थिति में नहीं रहता।' यहाँ वृक्षत्व कोटि की प्रधानता है, किन्तु तथापि उसका अवधारण (निश्चित ज्ञान) नहीं है। इसलिये 'ऊह' भी सशय का ही अवान्तर भेद माना गया है।

(२) *विपर्यय* (*Error*)

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः"

—त० स०

मिथ्या ज्ञान को *'विपर्यय'* कहते हैं। अन्धकार में रज्जु (रस्सी) को देखकर सर्प का भ्रम होता है। यहाँ यथार्थ में सर्प नहीं है। किन्तु हम झूठमूठ समझ बैठते हैं कि साँप है। ऐसे भ्रान्त ज्ञान को *विपर्यय* कहते है।

सशय और विपर्यय में भेद है। सशय में किसी वस्तु का निश्चय नहीं होता। विपर्यय में असत् वस्तु (अतत्त्व) का निश्चय हो जाता है। 'यह रस्सी है *या साँप ?'* ऐसा सन्देह (Doubt) संशय है। 'यह साँप ही है' ऐसा मिथ्या अवधारण (Illusion) या *विपर्यय* है।

अतः शिवादित्य कहते हैं—

"अवधारणरूपातत्त्वज्ञानं विपर्ययः"

"अनवधारणं ज्ञानं संशयः"

—स० प०

प्रशस्तपादाचार्य अप्रमा के निम्नोक्त दो और भेद मानते हैं—

(१) अनध्यवसाय (*Indefinite Cognition*)—जहाँ वस्तु का ग्रहण हो, किन्तु उसका परिचय नहीं प्राप्त हो। जैसे, किसी अपरिचित वृक्ष को देखने पर हम इतना जानते हैं कि यह कोई पेड़ है; किन्तु यह कौन पेड़ है—इसका क्या नाम है—इसका ज्ञान हमें नहीं रहता। ऐसे अप्रतीत विशेष विषय ज्ञान का नाम 'अनध्यवसाय' है।

संशय और अनध्यवसाय में अन्तर है। संशय के हेतु दो कोटियों का होना आवश्यक है। जैसे, 'यह कटहल है अथवा बड़हल ?' उभय कोटियों के विशेषानुस्मरण से संशय होता है। किन्तु अनध्यवसाय में ऐसी बात नहीं। 'यह कोई पेड़ होगा' इतना ही हम जानते हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न कोटियों का उल्लेख नहीं रहता। अतएव अनध्यवसाय की परिभाषा है—

अनुल्लिखितोभयकोट्यनवधारणज्ञानम् अनध्यवसायः।"

—सप्तपदार्थी

(२) स्वप्नज्ञान—निद्रावस्था में मन के विचलित होने पर जो मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'स्वप्न' कहते हैं।

"निद्रा दुष्टान्तःकरणजं ज्ञानं स्वप्नः"

—स० प०

मन का इन्द्रियों के प्रदेश से पृथक् हो जाना ही निद्रा है। समाधि-अवस्था में भी मन इन्द्रियों से अलग खिंच जाता है। किन्तु वह यौगिक प्रक्रिया के द्वारा होता है। विना यौगिक समाधि लगाये हुए ही मन का निरिन्द्रिय प्रदेश में चला जाना निद्रा है। इसलिये शिवादित्य कहते हैं—

"योगजधर्माननुगृहीतस्य मनसो निरिन्द्रियप्रदेशावस्थानं निद्रा।"

—सप्तपदार्थी

नोट—जीव की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) जागृति, (२) स्वप्न और (३) सुषुप्ति। जागृति अवस्था में मन, इन्द्रिय और आत्मा के संयोग से ज्ञान होता रहता है। स्वप्नावस्था में मन मिद्धा नामक नाड़ी में चला जाता है जहाँ इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। किन्तु तो भी आत्मा

के साथ उसका सम्पर्क बना रहता है। इसी कारण हमें स्वप्न ज्ञान होता है। किन्तु सुषुप्त्यवस्था में मन हृत्प्रदेश की पुरीतत् नामक नाड़ी में प्रवेश कर जाता है, जहाँ आत्मा से भी उसका सम्पर्क हट जाता है। ऐसी अवस्था में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।

पदार्थधर्मसंग्रह में स्वप्नज्ञान के तीन कारण बतलाये गये हैं—

(१) संस्कार—जैसी भावना रहती है उसके अनुरूप स्वप्न दिखलाई पड़ता है। जैसे, कामी कामिनीविषयक स्वप्न देखता है, लोभी द्रव्यविषयक स्वप्न देखता है।

(२) धातुदोष—प्रकृति के अनुसार भी स्वप्नज्ञान होता है। जैसे, पित्त प्रकृतिवाले पुरुष को अग्निविषयक स्वप्न दिखलाई पड़ता है। कफ का प्रकोप होने से जलविषयक स्वप्न दिखलाई पड़ता है। वात प्रकृति की प्रधानता होने पर आकाश में उड़ना आदि दिखलाई पड़ता है।

(३) अदृष्ट—इसके कारण ज्ञात और अज्ञात, नानाविषयक स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। इनमें कुछ (जैसे, गजारोहण आदि) शुभसूचक होते हैं और कुछ (जैसे, गर्दभारोहण आदि) अशुभसूचक।

जिस प्रकार अनुभव यथार्थ वा अयथार्थ होता है, उसी प्रकार स्मृति भी यथार्थ वा अयथार्थ होती है। प्रमा (यथार्थ अनुभव) की स्मृति यथार्थ होती है और अप्रमा (अयथार्थ अनुभव) की स्मृति अयथार्थ। स्वप्न-ज्ञान को भी अयथार्थ स्मृति का एक प्रभेद समझना चाहिये। शिवादित्य अनध्यवसाय को संशय के अन्तर्गत, और स्वप्नज्ञान को विपर्यय के अन्तर्गत मानते हैं।

(१८) प्रयत्न—

"*कृतिः प्रयत्नः*"

—तर्कसंग्रह

कार्य के आरम्भक गुण को '*प्रयत्न*' कहते हैं। '*संरम्भ*' और '*उत्साह*' इसके पर्यायवाचक शब्द हैं।

प्रयत्न दो प्रकार का होता है—

(१) *जीवनपूर्वक*—अर्थात् जो प्रयत्न आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है।

कन्दलीकार जीवन की परिभाषा करते हुए कहते हैं—

"सदेहस्यात्मनो विपच्यमानकर्माशयसहितस्य मनसा सह संयोगः सम्बन्धः जीवनम्"

अर्थात् अवशिष्ट कर्म का फल भोग करने के लिये सशरीर आत्मा का मन के साथ संयोग होना ही 'जीवन' कहलाता है। इस संयोग से उत्पन्न प्रयत्न को *जीवनपूर्वक* प्रयत्न कहते हैं। सुषुप्त्यवस्था में जो श्वासादि क्रिया होती है वह इसी प्रयत्न के द्वारा प्रवर्त्तित होती है।

(२) इच्छाद्वेषपूर्वक—अर्थात् जो प्रयत्न इच्छा या द्वेष के कारण उत्पन्न होता है। हित-प्राप्ति के लिये जो प्रवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है, वह इच्छापूर्वक प्रयत्न है। अहित-परिहार के लिये जो निवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है, वह द्वेषपूर्वक प्रयत्न है।

"हितसाधनोपादानेषु प्रयत्नः इच्छापूर्वकः। दुःखसाधनपरित्यागे प्रयत्नो द्वेषपूर्वकः।"

—न्या० क०

प्रयत्न विषय के अनुसार तीन प्रकार का होता है—

(१) *विहित*—जिससे धर्म की प्राप्ति हो। यथा, दान।

(२) *निषिद्ध*—जिससे अधर्म की प्राप्ति हो। जैसे, हिंसा।

(३) *उदासीन*—जिससे न धर्म हो न अधर्म। जैसे, शरीर खुजलाना। ❀

प्रयत्न और संस्कार—**पण्डित वरदराज** संस्कार का यह लक्षण बतलाते हैं—

"यज्जातीय समुत्पाद्यस्तज्जातीयस्य कारणम्।
स्वयं यस्तद्विजातीयः संस्कारः स गुणोमतः"

—तार्किकरक्षा

इसकी टीका करते हुए **ग्रन्थकर्त्ता** कहते हैं—

"स्वोत्पादकसजातीयस्योत्पादकः स्वयं च तद्विजातीयो गुणः संस्कार इति। यथा स्मृति हेतुः संस्कारः स अनुभवज्ञानजन्यः स्मृतिज्ञानहेतुः स्वयं न ज्ञानजातीयः। यथा वा वेगः कर्मजः कर्महेतुः स्वयं कर्म न भवति। यथा स्थितिस्थापकः वेष्टनादिकर्मजन्यः वेष्टनादिकर्मकारणं स्वयं च न कर्मरूपः"

—सारसंग्रह

❀ 'प्रयत्नोऽपि विहितनिषिद्धोदासीनविषयः।" *विहितत्वं धर्मोत्पादकत्वम्। निषिद्धत्वमधर्मोत्पादकत्वम्।* उभयविपरीतत्वमुदासीनत्वम्।"

—सप्तपदार्थी

अर्थात् संस्कार वह गुण है जो ज्ञान वा कर्म का कारण होते हुए भी स्वयं ज्ञान वा कर्म का स्वरूप नहीं है। प्रयत्न और संस्कार में कार्यकारण सम्बन्ध है।

,(१९–२०) सुख-दुःख

सुख—अन्नम्भट्ट ने सुख की परिभाषा यों की है—

"सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्"

—तर्कसंग्रह

जो सभी को अच्छा लगे—जिसमें सभी को आनन्द मालूम हो—उसका नाम 'सुख' है।

यों तो मोटा-मोटी काम चलाने के लिये यह परिभाषा उपयोगी है। किन्तु आलोचक दृष्टि से इसमें सुधार की आवश्यकता है, क्योंकि जो सुख एक के लिये अनुकूल होता है, वही दूसरे को प्रतिकूल जान पड़ता है। साधारण जीव विषय-सुख के द्वारा आकृष्ट हो उसके पीछे जान देते हैं, किन्तु महात्मा गण उसे तुच्छ समझ उसकी उपेक्षा करते हैं। साधुओं को त्याग में आनन्द मिलता है, किन्तु कृपणों को त्याग करने में प्राणत्याग-सा ही दुःख होने लगता है। ऐसी अवस्था में '*सर्वेषामनुकूलतया वेदनीय*' वस्तु किसे माना जाय?

इसलिये अन्नम्भट्ट 'तर्कसंग्रह-दीपिका' में सुख की दूसरी ही परिभाषा बतलाते हैं—

"*सुख्यहमित्याद्यनुव्यवसायगम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम्*"

अर्थात् जिस कारण आत्मा को '*मैं सुखी हूँ*' ऐसा अनुभव प्राप्त होता है, वही सुख है। इसकी टीका करते हुए नीलकण्ठ कहते हैं—

"*ननु सर्वेषामनुकूलवेदनीयम् इत्यादि मूलं सुखादिलक्षणपरं न संभवति परद्रव्योपभोगादि-जन्यसुखे साधूनां द्वेषदर्शनादव्याप्तेरित्याशङ्क्याह सुख्यहम् इत्यादिप्रत्यक्षसिद्धसुखत्वादिकमेव लक्षणम्*"।

साराश यह कि पहली परिभाषा में अव्याप्ति दोष लग सकता है, किन्तु दूसरी निर्दोष है।

मिठाई से आनन्द प्राप्त होता है तो क्या मिठाई सुख है? नहीं। मिठाई सुख का साधन हो सकती है, वह स्वतः सुख नहीं कही जा सकती। सुख वह है जो स्वतः (Intrinsically) आनन्ददायक हो। जो परतः (Extrinsically) आनन्ददायक हो वह यथार्थ सुख नहीं है। मिठाई हमें इसलिये अच्छी लगती है कि उससे जीभ को तृप्ति मिलती है। यदि मिठाई में तृप्तिकारकता नहीं रहती तो हम उसे नहीं चाहते। इसलिये असली आनन्द तृप्ति में है न कि मिठाई में। यही बात सभी उपभोग्य विषयों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये।

वे सुख के साधन द्रव्य हैं, इसलिये हम उन्हें चाहते हैं, किन्तु स्वयं उन्हें ही सुख समझना भूल है।

अतः **शिवादित्य** सुख की परिभाषा में 'निरुपाधिक' शब्द भी जोड़ देते हैं –

"*सुखत्वसामान्यवन्निरुपाध्यनुकूलवेद्यं सुखम्*"

—सप्तपदार्थी

सुख वही है जिसमें स्वाभाविक (निरुपाधिक) आनन्ददायकता हो।

प्रशस्तपाद सुख का लक्षण यह बतलाते हैं—

"*अनुग्रहलक्षणं सुखम्*"

—पदार्थधर्मसंग्रह

जिसके प्रसाद से आत्मा गद्‌गद् हो उठे, नेत्रों में एक चमक आ जाय, शरीर पुलकित हो उठे, उसे ही 'सुख' जानना चाहिये। जिन विषयों के द्वारा पूर्व में आनन्दप्राप्ति हो चुकी है, उनके स्मरण से भी सुख होता है। ऐसे सुख को '*स्मृतिज*' सुख कहते हैं। इसी तरह भविष्य में प्राप्त होनेवाले अभीष्ट पदार्थों की कल्पना में भी सुख होता है। ऐसे सुख को '*संकल्पज*' सुख कहते हैं।

सुख दो प्रकार का माना गया है—(१) '*सांसारिक*' और (२) *स्वर्गीय*। सांसारिक सुख '*प्रयत्न साध्य*' और स्वर्गीय सुख '*इच्छाधीन*' होता है।

"*प्रयत्नोत्पाद्यसाधनाधीनं सुखं सांसारिकम्।*
इच्छामात्राधीनसाधनसाध्यं सुखं स्वर्गः।"

—सप्तपदार्थी

दुःख—

"*प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्*"

सुख का उलटा दुःख है। जिससे आत्मा विपण्ण हो जाय, दीनता का भाव उत्पन्न हो, उसे दुःख जानना चाहिये। **प्रशस्तपाद** ने कहा है—

"*उपघातलक्षणं दुःखम्*"

—पदार्थधर्मसंग्रह

अतीत अनिष्ट के स्मरण से *स्मृतिज* दुःख और अनागत अनिष्ट की आशङ्का से *संकल्पज* दुःख होता है।

(२१) इच्छा—

"इच्छा कामः"

किसी वस्तु की कामना को इच्छा कहते हैं। जो वस्तु अभी प्राप्त नहीं है, वह (अपने लिये या दूसरे के लिये) प्राप्त हो जाय, ऐसी भावना ही 'इच्छा' है।

"स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा"

—पदार्थधर्मसंग्रह

इच्छा ही के द्वारा किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है; इसलिये धर्म और अधर्म दोनों का मूल इच्छा है।

इच्छा के विषय अनन्त हैं। भोजनविषयक इच्छा का नाम '*अभिलाष*' है। मैथुनेच्छा को '*काम*' कहते हैं। किसी वस्तु में निरन्तर आसक्ति का नाम '*राग*' है। भविष्य में कोई कार्य करने की इच्छा को '*संकल्प*' कहते हैं। परदुःख निवारण की इच्छा '*कारुण्य*' कहलाती है। विषयों को त्याग करने की इच्छा '*वैराग्य*' है। दूसरों को वंचना करने की इच्छा का नाम '*उपधा*' है। अन्तःकरण को गुप्त रखने की इच्छा '*भाव*' कहलाती है। इनके अतिरिक्त क्रिया-भेद के अनुसार इच्छा के भिन्न-भिन्न प्रभेद भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। जैसे—करने की इच्छा को '*चिकीर्षा*' कहते हैं। लेने की इच्छा को '*जिघृक्षा*' कहते हैं।

आत्मा और मन के संयोग से—सुख वा सुख की स्मृति के कारण—इच्छा उत्पन्न होती है।

(२२) द्वेष—

"ज्वलनात्मको द्वेषः"

—पदार्थधर्मसंग्रह

जिसके द्वारा आत्मा दग्ध-सा हो जाय उसे द्वेष कहते हैं।

प्रशस्तपाद कहते हैं—

"यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः"

—पदार्थधर्मसंग्रह।

आत्मा और मन के संयोग से—दुःख वा दुःख की स्मृति के कारण—द्वेष उत्पन्न होता है।

इच्छा की तरह द्वेष प्रयत्न, स्मृति और धर्माधर्म का मूल है। '*उसको मैं मारूँगा*'—ऐसा प्रयत्न द्वेष ही के कारण होता है। द्वेष स्मृति का भी कारण होता है, क्योंकि जो जिससे

द्वेष रखता है उसका निरन्तर स्मरण रखता है। निर्दोष व्यक्तियों से द्वेष करना अधर्म है। धर्मरक्षार्थ आततायियों और अत्याचारियों से द्वेष करना धर्म है।

क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष ये द्वेष के भिन्न-भिन्न प्रभेद हैं। न्यायकन्दलीकार इनके निम्नलिखित लक्षण देते हैं—

"शरीरेन्द्रियादिविकारहेतुः क्षणमात्रभावी द्वेषः क्रोधः"

जिस क्षणिक द्वेष के द्वारा शरीर और इन्द्रियों में विकार उत्पन्न हो जाता है उसे 'क्रोध' कहते हैं।

"अलक्षितविकारश्चिरानुबद्धापकारावसानो द्वेषो द्रोहः"

वह चिरसंचित द्वेष जो बाहर से लक्षित नहीं होता, किन्तु अन्ततः दूसरे को हानि पहुँचाता है, 'द्रोह' कहलाता है।

"अपकृतस्य प्रत्यपकारासमर्थस्यान्तर्निगूढो द्वेषो मन्युः"

अपकारी का बदला नहीं चुका सकने पर भीतर-ही-भीतर जो द्वेष सुलगता रहता है उसे 'मन्यु' कहते हैं।

"परगुणद्वेषोऽक्षमा"

दूसरे का उत्कर्ष देखकर जलने को 'अक्षमा' कहते हैं।

"स्वगुणपरिभवसमुत्थो द्वेषोऽमर्षः"

दूसरे से अपनी हीनता पर कुढ़ने को 'अमर्ष' कहते हैं।

(२३-२४) धर्माधर्म—

धर्म—धर्म की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं।—

"धर्मः पुरुषगुणः। कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञान विरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः।"

—पदार्थधर्मसंग्रह

अर्थात् धर्म आत्मा का गुण है। जिसके द्वारा कर्ता को सुख, सुखसाधन अथच मोक्ष की प्राप्ति हो सके उसीका नाम धर्म है। धर्म अतीन्द्रिय है, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। धर्म की उत्पत्ति अन्तःकरण में विशुद्ध भावों तथा पवित्र संकल्पों के द्वारा होती है। धर्म का फल है सुखप्राप्ति। अन्तिम सुख भोग चुकने पर धर्म निःशेष हो जाता है।

धर्म दो प्रकार का होता है—(१) *सामान्य* और (२) *विशेष*।

सामान्य धर्म वे हैं जो सबके लिये समान भाव से विहित हैं—यथा, *अहिंसा*, *परोपकार*, *सत्य*, *ब्रह्मचर्य्य*, *दया*, *क्षमा*, *शुचिता* इत्यादि। *विशेष धर्म* वे हैं जो वर्ण-विशेष अथवा आश्रमविशेष के लिये उपदिष्ट हैं। यथा—ब्राह्मण के लिये *यज्ञानुष्ठान*, क्षत्रिय के लिये *प्रजापालन*, वैश्य के लिये *कृषि-वाणिज्य*, शूद्र के लिये *सेवाकर्म*। इसी तरह ब्रह्मचर्याश्रम में *अध्ययनादि*, गृहस्थाश्रम में *दान*, *आतिथ्य आदि*, वानप्रस्थाश्रम में *वनवासादि*, तथा संन्यासाश्रम में *योगचर्यादि* आदिष्ट हैं।

सामान्य तथा विशेष धर्मों का अनुशासन श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों में पाया जाता है।

उपर्युक्त साधनों के द्वारा, निष्काम भाव से कर्त्तव्य-पालन करने पर मन का आत्मा के साथ जो संयोग होता है, उसी से धर्म की उत्पत्ति होती है।

अधर्म—यह भी आत्मा का गुण है। जिसके द्वारा कर्त्ता का अहित हो, जिससे दुःख की प्राप्ति हो, वही अधर्म है। यह भी धर्म की तरह अप्रत्यक्ष होता है। अन्तिम दुःख भोग करने से अधर्म का क्षय हो जाता है।*

जिस प्रकार धर्म के साधन शास्त्र द्वारा विहित (अनुमोदित) हैं, उसी प्रकार अधर्म के साधन शास्त्र-द्वारा निषिद्ध (वर्जित) हैं। धर्म के जो साधन बतलाये गये हैं, उनका प्रतिकूल आचरण करना ही अधर्मजनक है। जैसे—*हिंसा*, *अनृत* (झूठ), *स्तेय* (*चोरी*), परद्रोह आदि।

व्यापक और अव्यापक गुण—गुण या धर्म दो प्रकार का होता है—

(१) **स्वाश्रय व्यापक**—जो अपने आधारभूत द्रव्य के सर्वदेश में विद्यमान रहे जैसे, रूप। इसे '*व्याप्यवृत्ति धर्म*' कहते हैं। इसकी परिभाषा है—

"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगी धर्मः"

अर्थात् ऐसा धर्म जो अपने आधार या अधिकरण के सर्वाङ्ग में व्याप्त रहे; अधिकरण के किसी देश में जिसका अभाव नहीं हो। घट में जो रूप है, जल में जो रस है, अग्नि में जो उष्णता है, यह सब व्याप्यवृत्ति धर्म है।

(२) **अव्यापक**—जो अपने आधार के केवल एक देश में विद्यमान रहे। जैसे—*वृक्षकपि संयोगः*। यहाँ कपि का संयोग वृक्ष की केवल एक शाखा के साथ है, न कि सम्पूर्ण

* "अधर्मोऽपि आत्मगुणः। कर्तुरहितप्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी।"
—पदार्थ-धर्म-संग्रह

वृक्ष के साथ। उसी वृक्ष के देश-विशेष में संयोग का भाव है और देशान्तर (अन्य भाग) में संयोग का अभाव। ऐसे धर्म को '*अव्याप्य वृत्तिधर्म*' कहते हैं।

संयोग, विभाग, सुख, दुःख, द्वेष, संस्कार, धर्माधर्म और शब्द ये गुण *अव्यापक* होते हैं। बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न, ये तीन गुण *उभयरूप* होते हैं। ईश्वराश्रित होने से *व्यापक*, तथा जीवाश्रित होने से *अव्यापक* होते हैं। शेष गुण *व्यापक* होते हैं।*

---

* संयोगविभागसुखदुःखद्वेषसंस्कारधर्माधर्मशब्दाः अव्यापकाः। बुद्धीच्छाप्रयत्नाः उभयरूपाः। अन्ये सर्वे व्यापकाः।

—सप्तपदार्थी।

कर्म

[कर्म का लक्षण—कर्म के प्रभेद]

कर्म का लक्षण—महर्षि कणाद कर्म का लक्षण करते हुए कहते हैं—

"*एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्*"

—वै० सू० (१।१।१७)

अर्थात् कर्म वह है जो एक ही द्रव्य का आश्रित रहे, स्वयं गुण से रहित हो और संयोग-विभाग का निरपेक्ष कारण हो।

अब एक-एक शब्द पर विचार कीजिये—

(१) *एकद्रव्यम्*—कर्म भी गुण की तरह द्रव्याश्रित होता है। जिस प्रकार नीलत्व आदि गुण द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जा सकते, उसी प्रकार गमन प्रभृति कर्म भी द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जा सकते। किन्तु गुण और कर्म में एक भेद है। संयोग प्रभृति कुछ गुण ऐसे होते हैं जो *अनेकद्रव्याश्रित* होते हैं। अर्थात् वे एक ही द्रव्य के अन्तर्गत नहीं रहते। जैसे अग्नि-इन्धन का संयोग लीजिये। यहाँ संयोग केवल अग्नि अथवा केवल इन्धन में नहीं है। यह उभयनिष्ठ गुण है। किन्तु कर्म में यह बात नहीं पाई जाती। वह सदा एकनिष्ठ ही होता है। अर्थात् एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है। कोई भी कर्म ऐसा नहीं जो एक साथ दो द्रव्यों का आश्रित कहा जा सके। अतः कर्म के लक्षण में *एकद्रव्याश्रितत्व* कहा गया है।

(२) *अगुणम्*—जिस प्रकार गुण स्वयं किसी गुण का आधार नहीं होता उसी प्रकार कर्म भी गुण का आधार नहीं होता। गुणवान् वा कर्मवान् द्रव्य में गुण रहता है, स्वयं गुण या कर्म में नहीं। अतः कर्म भी गुण की तरह स्वयं गुण-रहित है। इसीलिये कर्म की परिभाषा में '*अगुणम्*' शब्द आया है।

(३) *संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम्*—किन्तु गुण और कर्म में एक भारी अन्तर है। गुण कभी संयोग या विभाग का कारण नहीं होता ; किन्तु कर्म संयोग-विभाग का चरम कारण होता है।* संयोग, विभाग और वेग—ये तीनों गुण कर्म ही के द्वारा उत्पन्न होते हैं। † जैसे, कर्मविशेष के द्वारा वाण में वेग उत्पन्न होकर धनुष से उसका विभाग तथा पदार्थान्तर के साथ संयोग होता है।

नोट—किन्तु संयोग का कारण संयोग भी तो हो सकता है। जैसे पाँव में जूता पहनने से शरीर और जूते का संयोग होता है। यहाँ चरण-पादुका-संयोग से शरीर-पादुका-संयोग हुआ है। यह संयोगज संयोग है। तब संयोग का एकमात्र कारण कर्म ही कैसे माना जा सकता है ? इस शंका का समाधान करने के लिये शिवादित्य ने संयोग-विभाग के पूर्व 'आद्य' शब्द भी जोड़ दिया है—

"*कर्म कर्मत्वजातियोगि आद्यसंयोगविभागयोरसमवायिकारणं चेति।*"

—सप्तपदार्थी

अर्थात् कर्म वही है जो प्राथमिक संयोग-विभाग का प्रवर्त्तक कारण हो। अनुवर्त्ती संयोग या विभाग संयोगज या विभागज भी हो सकते हैं। किन्तु मूल संयोग या विभाग कर्म ही के द्वारा हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रशस्तपादाचार्य ने कर्म के इतने लक्षण गिनाये हैं—

(१) एकद्रव्यवत्त्व, (२) अगुणवत्त्व, (३) संयोग विभाग-निरपेक्षकारणत्व, (४) मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्व, (५) क्षणिकत्व, (६) गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगजत्व, (७) स्वकार्यसंयोगविरोधित्व, (८) असमवायिकारणत्व, (९) स्वपराश्रयसमवेतकार्यारम्भकत्व (१०) द्रव्यानारम्भकत्व (११) समानजातीयानारम्भकत्व (१२) प्रतिनियतजातियोगित्व।

इनमें आदि के तीन लक्षणों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यहाँ अवशिष्ट की व्याख्या की जाती है।

(१) मूर्त्त द्रव्यवृत्तित्व—कर्म द्रव्य में ही रहता है। किन्तु वह सभी द्रव्यों में नहीं पाया जाता। आकाश प्रभृति निराकार द्रव्य ‡ निष्क्रिय होते हैं। जो अमूर्त्त अर्थात् निराकार है

* "संयोगविभागाश्च कर्मणाम्" (१।१।३०)

† संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्" (१।१।२०)

‡ "दिक्कालावकाशञ्च क्रियावैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" (५।२।२१)

उसमें कर्म कैसे होगा ? कर्म केवल साकार अर्थात् मूर्त्त द्रव्यों में ही हो सकता है। अतः पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और मन—ये पंचमूर्त्त ही कर्म के आधार द्रव्य हैं।

(२) क्षणिकत्व—जितने कर्म हैं वे सभी क्षणिक होते हैं। अर्थात् कुछ ही क्षणों तक ठहरते हैं। एक क्षण में क्रिया की उत्पत्ति होती है। दूसरे क्षण में उसके द्वारा विभाग होता है। तीसरे क्षण में उस विभाग के कारण पूर्ववर्त्ती संयोग का नाश होता है। चौथे क्षण में नया संयोग होता है। तदनन्तर (पाँचवें क्षण में) क्रिया का नाश हो जाता है।* इस तरह सभी क्रियाएँ उत्पन्न होकर विलीन हो जाती हैं। कोई भी कर्म नित्य अथवा चिरस्थायी नहीं रहता।

(३) गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगजत्व—कर्म इतने कारणों से उत्पन्न होता है— (१) प्रयत्न, (२) संयोग, (३) गुरुत्व, (४) द्रवत्व।

(क) *प्रयत्न*—जैसे आत्मा के प्रयत्न से हाथ में कर्म उत्पन्न होता है।†

(ख) *संयोग*—जैसे, वायु के संयोग से तृण में कर्म (हिलना आदि) उत्पन्न होता है।‡

(ग) *गुरुत्व*—जैसे, भारीपन के कारण (वृक्ष का संयोग छूट जाने पर) फल नीचे गिर पड़ता है। =

(घ) *द्रवत्व*—जैसे, द्रवत्व के कारण पानी में बहने की क्रिया होती है। +

कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिनका कुछ विशेष कारण नहीं बतलाया जा सकता। जैसे, अग्नि की शिखा स्वभावतः ऊपर की ओर जाती है। ऐसा क्यों होता है ? सृष्टि के आरम्भ में जो अणुओं में कर्म (स्पन्दनक्रिया) होता है वह किस कारण से उत्पन्न होता है ? शरीर में रक्तसंचालन और श्वासादि क्रिया क्यों होती हैं ? इनका उत्तर यही है कि ये कर्म अदृष्टजन्य हैं। अदृष्टशक्ति से प्रेरित होकर ही ये कर्म सम्पादित होते हैं। ×

---

* "क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात्पूर्वदेशसंयोगनाशः, पूर्वदेशसंयोगनाशात् उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिः, ततः क्रियानाशः।"

† "आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" (५।१।१)

‡ "तृणे कर्म वायुसंयोगात्" (५।१।१४)

= "संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्" (५।१।७)

\+ "द्रवत्वात् स्यन्दनम्" (५।२।४)

× "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितानि।" (५।२।११)

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि (५।२।१७)

(४) **स्वकार्यसंयोगविरोधित्व**—कर्म के द्वारा पूर्वसंयोग का नाश होकर परसंयोग की उत्पत्ति होती है। आपके हाथ में यह पुस्तक है। इसको आप टेबुल पर रख देते हैं। इस क्रिया के द्वारा पुस्तक का संयोग आपके हाथ से छूटकर टेबुल के साथ हो जाता है। यह नवीन सम्बन्ध स्थापित होते ही कर्म का अन्त हो जाता है। इसलिये यह नवीन संयोग जिस कर्म के द्वारा प्रसूत होता है उसीका अन्तक भी होता है। अथवा यों कहिये कि कर्म अपने कार्य के द्वारा ही नाश को प्राप्त होता है।* जिस प्रकार बीज अंकुर को पैदा कर स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने कार्य (नवीन संयोग) को जन्म देकर स्वयं मर जाता है। इसीलिये कणाद कहते हैं—

"कार्यविरोधि कर्म"

—१।१।१४

(५) '**असमवायिकारणत्व**—संयोग-विभाग का कारण कर्म ही होता है। इसलिये कर्म में कारणत्व रहता है। यह कारणत्व किस प्रकार का है? कर्म उपादान कारण तो हो नहीं सकता; क्योंकि एकमात्र द्रव्य ही उपादान (=समवायि) कारण हो सकता है। ऊखल में मूसल का संयोग (अभिघात) होता है। यहाँ ऊखल-मूसल उपादान कारण हैं। किन्तु मूसल में कर्म होने से ही यह संयोग होता है। इसलिये वह कर्म इस संयोग कार्य का *असमवायिकारण* है।†

(६) **स्वपराश्रयसमवेतकार्यारम्भकत्व**—कर्म के द्वारा संयोगादि कार्य का आरम्भ होता है। यह कार्य (संयोग) *स्वाश्रित* भी होता है और *पराश्रित* भी। अर्थात् जिस द्रव्य में यह कर्म हुआ है उसमें, और जिसमें यह कर्म नहीं हुआ है उसमें, दोनों में इस संयोग की वृत्ति हो जाती है। जैसे कर्म हुआ मूसल में। किन्तु उस कर्म का फल (संयोग) ऊखल और मूसल दोनों को मिलता है। अतएव कर्म से उत्पन्न कार्य उस कर्म के आश्रयभूत द्रव्य तथा द्रव्यान्तर दोनों में समवेत रहता है।

(७) **समानजातीयानारम्भकत्व**—द्रव्य और गुण सजातीयारम्भक होते हैं। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को और एक गुण दूसरे गुण को उत्पन्न कर सकता है।‡ किन्तु इसी तरह एक कर्म दूसरे कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकता। कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

---

* "स्वकार्यनैव कर्मणोनाशकमित्यादि। कार्येणोत्तरसंयोगरूपेण फलेन यो विरोधो नाशस्तद्वत् कर्मेत्यर्थः"

—जयनारायण तर्कपंचानन

† इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये कारण-कार्यवाला प्रकरण देखिये।

‡ द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरम्। (१।१।१०)

"*कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते।*"
(१।१।११)

इस बात का समर्थन करते हुए श्रीधराचार्य कहते हैं कि यदि कर्म में कर्मान्तरोत्पादकता मानते हैं तो अनवस्था आ जाती है; क्योंकि एक कर्म दूसरे कर्म को उत्पन्न करेगा, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, इस प्रकार कर्मों का ऐसा ताँता बँध जायगा जिसका कभी अन्त ही होना असंभव है। ऐसी हालत में यदि आप एक दफे चलना शुरू कर दें तो फिर कभी विराम ही नहीं हो सकता। * इसलिये कर्म में कर्मजनन का सामर्थ्य मानना दोषावह है।

यदि यह कहा जाय कि इच्छा और प्रयत्न के विरत होने पर चलने की क्रिया समाप्त हो जाती है तो इससे भी हमारा ही पक्ष पुष्ट होता है; क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि चलने की क्रिया प्रयत्न पर अवलम्बित है न कि प्रथम पदविक्षेप कर्म पर। परवर्ती पदविक्षेप भी उसी प्रकार प्रयत्नसाध्य है जिस प्रकार प्रारम्भिक पदविक्षेप, उनमें पौर्वापर्य होते हुए भी कारण-कार्य भाव नहीं है। यदि कर्म ही कर्म का उत्पादक होता तो फिर आदि कर्म की उत्पत्ति कैसे होती? और अन्तिम कर्म से भी कर्म की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? इसलिये कर्म को सजातीय (कर्मान्तर) का आरम्भक नहीं समझना चाहिये। †

(८) द्रव्यानारम्भकत्व—कर्म से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"*न द्रव्याणां कर्म*"
(१।१।२१)

कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति अवयवों के संयोग से होती है। किन्तु अवयवों का संयोग होते ही कर्म का विनाश हो जाता है। इसलिये कार्य द्रव्य की उत्पत्ति के समय कर्म का अभाव रहता है और जब द्रव्यारंभ के समय कर्म का अस्तित्व ही नहीं रहता तब फिर उसे द्रव्यारम्भक क्योंकर माना जा सकता है? अतएव जिस प्रकार कर्म, कर्म का कारण नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह द्रव्य का कारण भी नहीं कहा जा सकता। ‡

---

* कर्मणः कर्मान्तरारम्भे गच्छतो गतिविनाशो न स्यात्। इच्छाप्रयत्नादिविरामादन्ते गतिविराम इति चेत् तर्हि इच्छा प्रयत्नादिकमेवोत्तरोत्तरकर्मणामपि कारणं न तु कर्म।

—न्यायकन्दली

† विभागाभ्यासितं कर्म कर्मकार्यं न भवति कर्मत्वात् अन्त्य कर्मवत्। अथवा विभागाभ्यासितं कर्म कर्मसाध्यं न भवति कर्मत्वात् आद्यकर्मवत्। —न्यायकन्दली

‡ "कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माऽकारणमुक्तम्।"

वै० सू० (१।१।११)

(६) प्रतिनियतजातियोगित्व—उत्क्षेपण, अवक्षेपण प्रभृति जितने कर्म हैं उनमें दिशाभेद को लेकर क्रियाभेद निरूपित किया जाता है। * किन्तु उन सभी क्रियाओं में 'कर्मत्व' जाति समवेत रहती है। अर्थात् द्रव्य और गुण की तरह कर्म का भी जातिघटित लक्षण दिया जा सकता है।

कर्म के प्रभेद—कर्म पाँच प्रकार का माना गया है—

"(१) उत्क्षेपणम् (२) अवक्षेपणम् (३) आकुञ्चनम् (४) प्रसारणम् (५) गमनम् इति कर्माणि।

—वै० सू० १।१।७

यहाँ प्रत्येक का वर्णन किया जाता है।

१ उत्क्षेपण—

"ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुः उत्क्षेपणम्"

—त० सं०

जिस कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश के साथ संयोग होता है, वह 'उत्क्षेपण' कहलाता है। सीधे शब्दों में उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर उठना। पक्षी का ऊपर उड़ना, गेंद का ऊपर उछलना आदि उत्क्षेपण के उदाहरण हैं। इस क्रिया के द्वारा ऊपरी प्रदेश से संयोग और निचले प्रदेश से विभाग होता है।

२ अवक्षेपण—

"अधोदेशसंयोगहेतुः अवक्षेपणम्"

—त. सं.

जिस कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है उसे 'अवक्षेपण' कहते हैं। अवक्षेपण का सीधा अर्थ है नीचे गिरना। पेड़ से फल का गिरना, नीचे कूदना आदि अवक्षेपण के उदाहरण हैं। इस क्रिया के द्वारा निचले प्रदेश से संयोग और ऊपरी प्रदेश से विभाग होता है।

३ आकुञ्चन—

"शरीरस्य संनिकृष्टसंयोगहेतुः आकुञ्चनम्।"

—त. सं.

---

* दिग्विशिष्टकार्यारम्भकत्व च विशेष.।

—पदार्थधर्मसंग्रह

"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते।"

(१।१।११)

इस बात का समर्थन करते हुए श्रीधराचार्य कहते हैं कि यदि कर्म मे कर्मान्तरोत्पादकता मानते हैं तो अनवस्था आ जाती है, क्योंकि एक कर्म दूसरे कर्म को उत्पन्न करेगा, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, इस प्रकार कर्मों का ऐसा ताँता बँध जायगा जिसका कभी अन्त ही होना असंभव है। ऐसी हालत में यदि आप एक दफे चलना शुरू कर दें तो फिर कभी विराम ही नहीं हो सकता। * इसलिये कर्म में कर्मजनन का सामर्थ्य मानना दोषावह है।

यदि यह कहा जाय कि इच्छा और प्रयत्न के विरत होने पर चलने की क्रिया समाप्त हो जाती है तो इससे भी हमारा ही पक्ष पुष्ट होता है, क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि चलने की क्रिया प्रयत्न पर अवलम्बित है न कि प्रथम पदविक्षेप कर्म पर। परवर्ती पदविक्षेप भी उसी प्रकार प्रयत्नसाध्य है जिस प्रकार प्रारम्भिक पदविक्षेप, उनमें पौर्वापर्य होते हुए भी कारण-कार्य भाव नहीं है। यदि कर्म ही कर्म का उत्पादक होता तो फिर आदि कर्म की उत्पत्ति कैसे होती? और अन्तिम कर्म से भी कर्म की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? इसलिये कर्म को सजातीय (कर्मान्तर) का आरम्भक नहीं समझना चाहिये। †

(८) द्रव्यानारम्भकत्व—कर्म से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"न द्रव्याणां कर्म"

(१।१।२१)

कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति अवयवों के सयोग से होती है। किन्तु अवयवों का सयोग होते ही कर्म का विनाश हो जाता है। इसलिये कार्य द्रव्य की उत्पत्ति के समय कर्म का अभाव रहता है और जब द्रव्यारंभ के समय कर्म का अस्तित्व ही नहीं रहता तब फिर उसे द्रव्यारम्भक क्योंकर माना जा सकता है? अतएव जिस प्रकार कर्म, कर्म का कारण नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वह द्रव्य का कारण भी नहीं कहा जा सकता। ‡

---

* कर्मण कर्मान्तरारम्भे गच्छतो गतिविनाशो न स्यात्। इच्छाप्रयत्नादिविरामादन्ते गतिविराम इति चेत् तर्हि इच्छा प्रयत्नादिकमेवोत्तरोत्तरकर्मणामपि कारणं न तु कर्म।

—न्यायकन्दली

† विभागाभ्यासितं कर्म कर्मकार्यं न भवति कर्मत्वात् अन्त्य कर्मवत्। अथवा विभागाभ्यासितं कर्म कर्मारम्भं न भवति कर्मत्वात् आद्यकर्मवत्।

—न्यायकन्दली

‡ "कारणाभावे द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम्।"

वै॰ सू॰ (१।१।२१)

(६) प्रतिनियतजातियोगित्व—उत्क्षेपण, अवक्षेपण प्रभृति जितने कर्म हैं उनमें दिशाभेद को लेकर क्रियाभेद निरूपित किया जाता है।* किन्तु उन सभी क्रियाओं में 'कर्मत्व' जाति समवेत रहती है। अर्थात् द्रव्य और गुण की तरह कर्म का भी जातिघटित लक्षण दिया जा सकता है।

कर्म के प्रभेद—कर्म पाँच प्रकार का माना गया है—

"(१) उत्क्षेपणम् (२) अवक्षेपणम् (३) आकुञ्चनम् (४) प्रसारणम् (५) गमनम् इति कर्माणि।

—वै० सू० १।१।७

यहाँ प्रत्येक का वर्णन किया जाता है।

१ उत्क्षेपण—

"ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुः उत्क्षेपणम्"

—त० स०

जिस कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश के साथ संयोग होता है, वह 'उत्क्षेपण' कहलाता है। सीधे शब्दों में उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर उठना। पक्षी का ऊपर उड़ना, गेंद का ऊपर उछलना आदि उत्क्षेपण के उदाहरण हैं। इस क्रिया के द्वारा ऊपरी प्रदेश से संयोग और निचले प्रदेश से विभाग होता है।

२ अवक्षेपण—

"अधोदेशसंयोगहेतुः अवक्षेपणम्"

—त. स.

जिस कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है उसे 'अवक्षेपण' कहते हैं। अवक्षेपण का सीधा अर्थ है नीचे गिरना। पेड़ से फल का गिरना, नीचे कूदना आदि अवक्षेपण के उदाहरण हैं। इस क्रिया के द्वारा निचले प्रदेश से संयोग और ऊपरी प्रदेश से विभाग होता है।

३ आकुञ्चन—

"शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुः आकुञ्चनम्।"

—त. सं.

---

* दिग्विशिष्टकार्यारम्भकत्वं च विशेषः।

—पदार्थधर्मसंग्रह

आकुञ्चन का अर्थ है सिकुड़ना या संकुचित होना। इस क्रिया के द्वारा शरीर से और भी सन्निकृष्ट प्रदेश के साथ संयोग होता है। कछुए का अङ्ग समेटना, लाजवन्ती के पत्तों का सिकुड़ना आदि आकुञ्चन के उदाहरण हैं। इस क्रिया के द्वारा आन्तरिक प्रदेश से संयोग और बाह्य प्रदेश से विभाग होता है। इसी क्रिया के द्वारा ऋजु (सीधी) वस्तु झुककर कुटिल (टेढ़ी) हो जाती है।

४ प्रसारण—

"विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्"

—त. सं.

'प्रसारण' का अर्थ है फैलना। इस क्रिया के द्वारा *विप्रकृष्ट* (दूरवर्त्ती) प्रदेश के साथ संयोग होता है। लता का फैलना, नदी का आप्लावित होना आदि इसके उदाहरण हैं।

५ गमन—

"यदनियतदिक्प्रदेशसंयोगविभागकारणं तद्गमनमिति"

—पदार्थधर्मसंग्रह

गमन से साधारण चलनात्मक क्रिया का बोध होता है, जिसके द्वारा एक स्थान से विभाग और दूसरे स्थान से संयोग होता है। इसमें किसी नियत दिशा का निर्धारण नहीं रहता।

उपर्युक्त चतुर्विध कर्मों के अतिरिक्त और जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे 'गमन' के अन्तर्गत आ जाती हैं।*

यहाँ एक प्रश्न उठता है। सभी क्रियाएँ तो गमन के अन्तर्गत ही आ सकती हैं। फिर कर्म के पाँच भेद क्यों माने जायँ? और, अगर कार्यभेद के अनुसार वर्गीकरण ही किया जाय तो फिर प्रवेशन (घुसना), निष्क्रमण (निकलना) आदि भी भिन्न-भिन्न कर्म क्यों नहीं माने जायँ? इस प्रश्न को लेकर प्रशस्तपाद ने खूब ही विस्तृत विवेचना की है। उपर्युक्त कर्म का वर्गीकरण दिग्विशेष के अनुसार किया गया है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि का भेद सहज ही दृष्टिगोचर होता है। अतः, ये अवान्तर भेद प्रत्यक्षसिद्ध हैं। प्रवेशन, निष्क्रमण आदि कार्यों के भेद भी स्पष्ट हैं, किन्तु उनमें किसी नियत दिशा का निर्धारण नहीं रहता। अगल-बगल, ऊपर-नीचे सब ओर प्रवेश किया जा सकता है। अतः, ऐसी क्रियाओं को कर्म के भिन्न-भिन्न प्रभेद मानने से वर्गीकरण में संकरता (cross classification) आ जायगी।

* "अन्यत् सर्वं गमनम्।"

—त. स.

"भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्द्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।"

—भ. प.

सामान्य

[सामान्य का अर्थ—सामान्य के लक्षण—सामान्य के प्रभेद—सामान्य और जाति]

सामान्य का अर्थ—

"*नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्*"

—तर्कसंग्रह

सामान्य का अर्थ है *जाति*, जो समान रूप से बहुत-सी वस्तुओं में रहे। जैसे—*गोत्व*। संसार में गायें बहुत-सी हैं, किन्तु *गोत्व* जाति एक ही है। जाति स्वतः एक होते हुए भी अनेक व्यक्तियों मे समवेत रहती है। गायें पैदा होती हैं और मर जाती हैं, किन्तु 'गोत्व' जाति का कभी विनाश नहीं होता। जब एक भी गाय पैदा नहीं हुई थी तब भी गोत्व जाति थी। और, यदि सभी गायें संसार से लुप्त हो जायँ तब भी गोत्व जाति बनी रहेगी। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु जाति नित्य—शाश्वत बनी रहती है।

अतः, जाति के दो प्रमुख लक्षण हैं—(१) *नित्यत्व* और (२) *अनेकसमवेतत्व*। घट-पट आदि कार्य-द्रव्य भी *अनेकसमवेत* हैं, किन्तु वे *नित्य* नहीं हैं, अतएव सामान्य नहीं कहे जा सकते। आकाश का परिमाण नित्य है, किन्तु उसकी वृत्ति एकमात्र व्यक्ति (आकाश) में सीमित है, अर्थात् वह अनेकसमवेत नहीं है। इसलिये उसको जाति संज्ञा नहीं हो सकती।* जाति में नित्यत्व के साथ-साथ अनेकसमवेतत्व का होना आवश्यक है। अतएव, सामान्य का निरूपण करते हुए विश्वनाथ पञ्चानन कहते हैं—

"*नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्* (*जातित्वम्*)

—सिद्धान्तमुक्तावली

सामान्य नित्य, एक और *अनेकसमवेत* होता है।

"*सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवेतञ्च*"

—सप्तपदार्थी

---

* "एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः" —सि० मु०

इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए **जिनवर्द्धन सूरि** प्रत्येक शब्द की आवश्यकता यों दिखलाते हैं।*

(१) *अनेक वृत्ति*—इस शब्द से कर्म और रूपादि गुण छँट जाते हैं, क्योंकि वे *एकद्रव्याश्रित* होते हैं। एक ही कर्म या रूप दो वस्तुओं में नहीं रह सकता।

(२) *नित्य*—किन्तु संयोग, विभाग, पृथक्त्व प्रभृति कुछ गुण ऐसे भी हैं जो एक होते हुए भी *अनेकानुगत* होते हैं। अत, उनसे सामान्य का विभेद जताने के लिये *'नित्य'* शब्द जोड़ा गया है। संयोग आदि गुण अनित्य होने के कारण छँट जाते हैं।

(३) समवेत—किन्तु अत्यन्ताभाव में *अनेकवृत्तित्व* और *नित्यत्व* ये दोनों गुण मौजूद हैं। *आत्मा आकाश नहीं है*, यह *अत्यन्ताभाव उभयनिष्ठ* और *नित्य* है। किन्तु इसे सामान्य नहीं कह सकते। सामान्य अपने आश्रय में समवेत रूप से रहता है, किन्तु अभाव का किसी वस्तु से *समवाय सम्बन्ध* नहीं हो सकता। इसलिये साधारण वृत्ति से विशेषता लक्षित करने के लिये *'समवेत'* शब्द आवश्यक है।

(४) एक—किन्तु नित्य द्रव्यों के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व (विशेष) भी तो नित्य और अनेकसमवेत हैं। इसलिये उनसे भेद सूचित करने के लिये एक और विशेषण जोड़ना होगा। विशेष अनेक होते हुए अनेकसमवेत होते हैं, किन्तु सामान्य एक ही रहते हुए अनेक-समवेत होता है। इसलिये *'एक'* शब्द जोड़ने से विशेष भी छँट जाता है।

इस प्रकार सामान्य की परिभाषा में *'एक'*, *'अनेक'*, *'समवेत'* और *'नित्य'* ये सभी शब्द सार्थक और अनिवार्य हैं।

सामान्य के लक्षण—प्रशस्तपाद सामान्य के निम्नलिखित लक्षण बतलाते हैं—

(१) *स्वविषयसर्वगत*—सामान्य अपने आधारभूत विषयों में व्यापक रहता है। एक जाति के जितने व्यक्ति हैं, उन सब में उस सामान्य की व्याप्ति होती है। जैसे—*मनुष्यत्व* जाति सभी मनुष्यों में समवेत है।

(२) *अभिन्नात्मक*—मनुष्य (व्यक्ति) भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु उनमें जो मनुष्यत्व जाति है वह सब में एक ही है। अर्थात् *सामान्य* भिन्न भिन्न विषयों में अवस्थित होते हुए भी स्वयं अभिन्नरूप होता है।

* "समवेतमित्यनेन समवायाभावनित्यद्रव्याणां समवेतानां न्युदास। अनेकसमवेतमित्युक्तेन विशेषाणां कर्मणां रूपादीनां गुणानां च तेषामेकमात्रसमवेतत्वात्। नित्यमित्यनेन कार्यद्रव्यसंयोगविभागद्वित्वपृथक्त्वादीनां निरास। अनेके सन्तो विशेषा अपि अनेकसमवेता स्युरिति तन्निवृत्त्यर्थमेकमिति।"

—सप्तपदार्थी टीका

(३) अनेकवृत्ति—सामान्य के लिये अनेक विषयों का होना जरूरी है। अनेक घट-विषयों में समवेत होने के कारण ही घटत्व जाति संभव है। किन्तु, आकाश एक ही है। अतएव आकाशत्व जाति होना असंभव नहीं।

(४) अनुवृत्तिप्रत्ययकारण — जैसे—एक गाय को देखने पर गोत्व जाति की उपलब्धि होती है, वैसे ही दो, तीन या बहुत-सी गायों को देखने पर भी गोत्व जाति की उपलब्धि होती है। गोत्व जाति अभिन्न रूप से एक ही साथ सभी गायों में विद्यमान रहती है। इसी सम्बन्ध-सूत्र से भिन्न-भिन्न व्यक्ति एकसाथ ग्रथित होते हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न गायें एक ही नाम 'गाय' से पुकारी जाती हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक वर्ग के अन्तर्गत ग्रहण किया जाना सामान्य ही के कारण होता है। ❀ सामान्य अनेक विषयों में एकस्वरूपत्व का ज्ञान कराता है।

कणाद का सूत्र है—

"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।"

(१।२।३)

अर्थात् सामान्य और विशेष का भाव ज्ञानाधीन होता है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से सामान्य और विशेष दोनों कह सकते हैं। जैसे द्रव्यत्व को लीजिये। यह सामान्य है; क्योंकि इससे सजातीय पृथ्वी, जल, अग्नि आदि की *अनुवृत्ति* (*सवर्गता*) का ज्ञान होता है। किन्तु, साथ-ही-साथ विजातीय गुण, कर्म आदि से *व्यावृत्ति* (*पृथग्वर्गता*) का बोध भी इससे होता है। अतः, यह विशेष भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार गुणत्व, कर्मत्व प्रभृति सामान्यों के विषय में भी समझना चाहिये। †

नोट—केवल सत्ता (Existence) मात्र ऐसी जाति है जो सामान्य ही कही जा सकती है, विशेष नहीं। अपर सामान्य स्वविषयों के संयोजक होने से *सामान्य* और विषयान्तरों से विच्छेदक होने के कारण विशेष, दोनों समझे जा सकते हैं।

सामान्य के प्रभेद—सामान्य दो प्रकार का होता है—(१) पर (Higher) और (२) अपर (Lower)। जो सामान्य अधिक व्यापक होता है (अर्थात् जिसकी वृत्ति अधिकतर विषयों में रहती है) उसे 'पर' और जो सामान्य कम व्यापक होता है (अर्थात् जिसकी सीमा संकुचित रहती है) उसे 'अपर' कहते हैं। ❀

❀ "परस्पर विभक्तेषु पदार्थेषु योऽनुवृत्ति प्रत्ययो जायते तत्र सामान्य कारणम्।"

—जिनवर्द्धनसूरि

† "अपर द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्ति हेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवति। तत्र द्रव्यत्वं परस्पर-विशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्ति (प्रत्यय) हेतुत्वात् सामान्यम्। गुणकर्मभ्यो व्यावृत्ति (प्रत्यय) हेतुत्वात् विशेषः।"

—प्रशस्तपादभाष्य

जातियों में सबसे अधिक व्यापक है 'सत्ता', क्योंकि इसकी वृत्ति संसार की सभी वस्तुओं में (प्रत्येक द्रव्य, गुण और कर्म में) रहती है। अतएव यह (सत्ता) *पर सामान्य* है। और-और सामान्य इसकी अपेक्षा कम व्यापक होने के कारण *अपर सामान्य* कहलावेंगे।

"द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते।"

—भा० प०

परत्वापरत्व आपेक्षिक (Relative) होते हैं। जैसे, 'द्रव्यत्व' को ले लीजिये। यह 'सत्ता' की अपेक्षा न्यून विस्तार वाला (Narrower extent) होने के कारण 'अपर' (Species), किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा अधिक विस्तार वाला (Wider extent) होने के कारण 'पर' (Genus) है। इसी तरह 'पृथ्वीत्व' भी द्रव्यत्व की अपेक्षा अपर, किन्तु 'घटत्व' की अपेक्षा 'पर' † है।

सीधे शब्दों में 'पर' से ऊपर तथा 'अपर' से नीचे का अर्थ समझना चाहिये। सबसे ऊपर वाला सामान्य (Summum genus) है 'सत्ता', क्योंकि यह सभी जातियों में व्यापक (Genus) है—किसी का व्याप्य (Species) नहीं। अतः *'पर' सामान्य* (Summum genus) है। सबसे नीचे वाला सामान्य (Infima species) है 'घटत्व' आदि। इनके नीचे कोई दूसरी जाति नहीं है। अतएव ये किसी जात्यन्तर के व्यापक नहीं हो सकते—व्याप्य मात्र हो सकते हैं। इसलिये ये शुद्ध *'अपर' सामान्य* हैं। इन दोनों के मध्यवर्ती 'द्रव्यत्व' आदि सामान्य (Subaltern Genera and Species) पर और अपर दोनों होते हैं। इन्हें 'परापर' कहते हैं। ‡

"द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।"

—भा० प०

अतः, व्याप्ति के अनुसार सामान्य की तीन कोटियाँ होती हैं ×—

(१) *पर*—परम सामान्य (Summum Genus) सत्ता।

---

* परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्।

—सि० मु०

† पृथिवीत्वापेक्षया द्रव्यत्वस्याधिकदेशवृत्तित्वाद्व्यापकत्वात्परत्वं सत्तापेक्षयाल्पदेशवृत्तित्वाद्व्याप्यत्वादपरत्वम्।

—सि० मु०

‡ सकलजात्यपेक्षया सत्ताया अधिकदेशवृत्तित्वात् परत्वम्। तदपेक्षया च घटादीनामपरत्वम्।

× "सामान्यं परम् अपरं परापरं चेति। व्यापकमात्रं सामान्यं परम्। व्याप्यमात्रं सामान्यमपरम्। व्यापकत्वव्याप्यत्वोभयवत् सामान्यं परापरम्।"

—सप्तपदार्थी

(२) परापर—मध्यवर्त्ती जाति (Subaltern genera and species) जैसे—द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि।

(३) अपर—अन्त्य जाति (Infima Species)। जैसे—घटत्व पटत्व आदि।

साधारणतः सामान्य से जाति का ही बोध होता है; किन्तु व्यापक अर्थ में सामान्य दो प्रकार का माना जाता है—(१) जातिरूप और (२) उपाधिरूप।

"*निर्बाधकं सामान्यं जातिः। सबाधकं सामान्यमुपाधिः।*"

—सि० प०

जो सामान्य विषय के सम्बन्ध से जाना जाता है, उसे '*जाति*' कहते हैं। जैसे, गोत्व। जो सामान्य परम्परा-सम्बन्ध से जाना जाता है (अर्थात् विषय के साथ जिसका स्वरूप-सम्बन्ध नहीं रहता) उसे '*उपाधि*' कहते हैं। जैसे, शुक्लित्व। इसलिये जाति को *साक्षात्-सम्बद्धसामान्य* तथा उपाधि को *परम्परा-सम्बद्ध सामान्य* भी कहते हैं।

'*क्रियात्व*' आदि सामान्य अनिर्वचनीय (Absolute) हैं। अर्थात् वे स्वतः जाने जाते हैं। उनको समझने के लिये विषयान्तर की अपेक्षा नहीं होती। अतः, इन्हें *अखण्ड सामान्य* भी कहते हैं। किन्तु मूर्त्तत्व प्रभृति सामान्य *निर्वचनीय* (Relative) है। अर्थात् इन्हें समझाने के लिये विषयान्तर की अपेक्षा हो जाती है।

"*मूर्त्तत्वं क्रियाश्रयत्वम्।*"

यहाँ मूर्त्तत्व का किसी व्यक्ति से निरपेक्ष सम्बन्ध नहीं है। उस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये 'क्रियात्व' (जाति) का सहारा लेना पड़ता है। इसलिये ऐसे *सामान्य को सखण्ड* कहते हैं।

शुद्ध जाति अखण्ड सामान्य होती है। इसके विपरीत सखण्ड सामान्य को उपाधि समझना चाहिये। जाति नैसर्गिक होती है। उपाधि कृत्रिम होती है। '*मनुष्यत्व*' शुद्ध जाति है। किन्तु '*राजत्व*' औपाधिक सामान्य है।

सामान्य और जाति—जिन कारणों से सामान्य को जाति होने में बाधा पहुँचती है, उनका निर्देश उदयनाचार्य यों करते हैं—

"*व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।*
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः।"

—किरणावली

* यत्सामान्यं यत्र साक्षात्सम्बन्धेन वृत्तौ व्यक्त्यभेदादिबाधकरहितं तत्तत्र जातिः साक्षात्तद्वृत्ति। अन्यत्तत्रोपाधिः परम्परावृत्तीति यावत्। बाधकबलेन साक्षात् सम्बन्धत्यागे विशिष्टप्रत्ययबलेनान्यवृत्तिजातेरेव परम्परया तत्र वृत्तिकल्पनमिति भावः।

(१) *व्यक्ति का अभेद*—जैसे आकाश सर्वत्र एक ही है। अतएव 'आकाशत्व' जाति नहीं हो सकती।

(२) *तुल्यत्व*—जहाँ भिन्न-भिन्न शब्द एक ही अर्थ के वाचक (पर्यायबोधक) हों वहाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ नहीं होतीं। जैसे 'घटत्व' और 'कलशत्व' ये दो जातियाँ नहीं हैं (एक ही हैं)।

(३) *संकरता*—जहाँ एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य में और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति पहले सामान्य में आ जायँ वहाँ *संकरता दोष* जानना चाहिये।* ऐसी अवस्था में जातित्व नहीं समझा जाता। जैसे, भूतत्व और मूर्त्तत्व को लीजिये। पंचभूत हैं—*पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु* और *आकाश*। पंचमूर्त्त हैं—*पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु* और *मन*। दोनों सामान्यों (Classes) में संकरता (Overlapping) है। अतएव भूतत्व और मूर्त्तत्व जाति नहीं माने जा सकते।

(४) *अनवस्था*—सामान्य की जाति नहीं होती। घट की जाति है घटत्व। अब यदि इस घटत्व की जाति ('घटत्वता') भी मानते हैं, तो फिर उसकी भी जाति (घटत्वतात्व) माननी पड़ेगी, और फिर इस सिलसिले का कभी अन्त ही नहीं होगा। इस तरह जाति की जाति मानने से अनवस्था दोष (Infinite Regress) आ जायगा। अतएव 'घटत्व' प्रभृति जातियों की जाति नहीं हो सकती।

(५) *रूपहानि*—जहाँ जाति की कल्पना करने से व्यक्ति के स्वरूप की हानि हो जाय, वहाँ जाति नहीं होती है। अत', विशेषों के बहुसंख्यक होने पर भी 'विशेषत्व' जाति नहीं हो सकती, क्योंकि विशेष स्वभावतः सामान्य के विरुद्ध धर्म हैं। अतएव उनकी जाति-कल्पना करने से उनके स्वरूप की हानि हो जायगी।

(६) *असम्बन्ध*—जहाँ समवाय-सम्बन्ध का अभाव हो वहाँ जाति नहीं होती। अतः, 'समवायत्व' जाति नहीं हो सकती ; क्योंकि जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहती है ; किन्तु स्वयं समवाय के साथ उसका समवाय सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

उपर्युक्त वार्ता से यह स्पष्ट है कि सामान्य, विशेष अथवा समवाय की जाति नहीं हो सकती। द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीन पदार्थों में ही जाति की वृत्ति रहती है।

साधारणतः सामान्य शब्द से जाति का ही ग्रहण होता है, उपाधि का नहीं। अत. स्थान-स्थान पर सामान्य और जाति ये दोनों शब्द पर्यायवत् व्यवहृत किये गये हैं।

बौद्धगण व्यक्तियों से पृथक् सामान्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि सामान्य वस्तुतः कोई चीज नहीं, कोरा नाममात्र (Nominal) है। यदि सामान्य है, तो वह सर्वगत (all-pervading) है अथवा पिण्डगत (limited) ? यदि सर्वगत

* "परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्रसमावेशः सङ्करः।"

है तो घट, पट आदि सभी वस्तुओं में गोत्व की व्याप्ति रहनी चाहिये और गो, महिष आदि सभी वस्तुओं में घटत्व की व्याप्ति होनी चाहिये। ऐसी दशा में सांकर्य दोष आ जायगा।

यदि वह *स्वविषय पिण्डगत* है, तब यह मानना पड़ेगा कि किसी नवीन घट के उत्पन्न होने के पहले उसमें घटत्व जाति नहीं थी। तब घट निर्माण होने पर उसमें घटत्व जाति कहाँ से आ जाती है? यदि वह घट के साथ ही उत्पन्न होती है, तब तो जाति को नित्य नहीं मान सकते। यदि यह कहा जाय कि वह स्थानान्तर से घट में पहुँच जाती है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जाति अमूर्त्त होती है और अमूर्त्त वस्तु में क्रिया होना असंभव है। फिर यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि घट का प्रध्वंस हो जाने पर घटत्व जाति कहाँ जाती है?

जयन्ताचार्य ने इन शंकाओं का समाधान अपनी *न्यायमंजरी* में किया है। वे कहते हैं कि सामान्य व्यक्ति के साथ उत्पन्न और विनष्ट नहीं होता। वह कहीं आता-जाता नहीं—नित्य वर्त्तमान रहता है। किन्तु वह सर्वदा लक्षित नहीं होता। व्यक्ति विशेष को देखने पर उसकी अभिव्यक्ति होती है। व्यक्ति का विनाश होने से सामान्य का विनाश नहीं होता। यदि सभी घट नष्ट हो जायँ तो भी घटत्व जाति का संहार नहीं हो सकता।

श्रीधराचार्य ने भी *न्यायकन्दली* में बौद्ध-आक्षेपों का निराकरण किया है। वे कहते हैं कि यदि सामान्य व्यक्ति से अभिन्न रहता तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एक ही नाम (यथा—गो) किस आधार पर दिया जाता? और, फिर यह कैसे जाना जाता कि यह व्यक्ति 'गो' है और वह व्यक्ति 'अश्व'। दो व्यक्तियों को देखते ही हम पहचान जाते हैं कि वे एक वर्ग के हैं अथवा भिन्न-भिन्न वर्गों के। यह सामान्य के कारण ही होता है।* अतएव सामान्य की सत्ता वास्तविक (Real) माननी चाहिये।

नोट—पाश्चात्य दर्शन में भी सामान्य को लेकर इसी प्रकार Nominalism और Realism का विवाद चला है।

---

* "अनेकासु गोव्यक्तिष्वनुभूयमानाश्वादिव्यक्तिविलक्षणतया सामान्याकारप्रतीतिसंभवात्। यदि शावलेयादिषु परस्परभिन्नेष्वेकमनुवृत्तं न किंचिदस्ति यथा गवाश्वव्यक्तयः परस्परविलक्षणाः संवेद्यन्ते तथा गोव्यक्तयोऽपि संवेद्याः स्युः। यथा वा गोव्यक्तयः सरूपाः प्रतीयन्ते तथा गवश्वव्यक्तयोऽपि प्रतीयेरन् विशेषाभावात्।"

—न्यायकन्दली

विशेष

[विशेष का अर्थ--विशेष का लक्षण--विशेष का ज्ञान]

विशेष का अर्थ—

"*अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुविशेषः*"

जो वस्तु एक व्यक्ति को संसार के और सभी व्यक्तियों से व्यावृत्त करती है—बिलगाती है, उसे '*विशेष*' कहते हैं। अतः, विशेष का अर्थ है *व्यावर्त्तक या अवच्छेदक* (Differentia)। सामान्यों के द्वारा भी अवच्छेदन होता है। जैसे 'घटत्व' से घट द्रव्य का पट प्रभृति द्रव्यों से पार्थक्य जाना जाता है। किन्तु, इस सामान्य के द्वारा एक घट से दूसरे घट का विभेद-निरूपण नहीं किया जा सकता। आप कहियेगा कि यह घट बड़ा है, वह छोटा। यह नीला है, वह पीला। किन्तु मान लीजिये, दोनों घट एक ही रूप, रंग और आकार वाले हैं। ऐसी अवस्था मे वह कौन-सी वस्तु है जिसके कारण दोनों घटों में विभेद स्थापित होता है? कोरे सामान्य के द्वारा आपका काम नहीं चल सकता। वह कुछ दूर तक आपका साथ दे सकता है, किन्तु अन्त तक नहीं। अन्ततोगत्वा विभेद निरूपण के लिये आपको दूसरी ही वस्तु की शरण लेनी पड़ेगी। अतः, सामान्य व्यवर्त्तक होते हुए भी *अन्त्य व्यावर्त्तक* (Absolute Differentia) नहीं कहा जा सकता।

दो घट चाहे जितने भी अंशों में समान हों, किन्तु उनके परमाणु तो अवश्य ही भिन्न-भिन्न होंगे। प्रत्येक परमाणु का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है। इसी खास व्यक्तित्व (Particularity) का नाम 'विशेष' है। एक विशेष एक ही व्यक्ति में पाया जा सकता है, अन्य किसी भी व्यक्ति में नहीं। इसी के कारण प्रत्येक मूल वस्तु अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखती है। अतः, विशेष के द्वारा ही अत्यन्त व्यावृत्ति (Absolute Differentiation) होती है। इसलिये विशेष को अन्त्य व्यावर्त्तक कहा गया है।

समवाय

ेर समवाय—समवाय सम्बन्ध का स्वरूप—समवाय के उदाहरण]

"नित्यस[illegible] समवायः"

.। नाम [illegible] वस्तुओं में सर्वदा से मौजूद है और कभी
'टत्व' [illegible] र है वह नित्य और अचल है। इस सम्बन्ध
[illegible] गा वहाँ घटत्व रहेगा ही।

व स्थापित होता है। किन्तु वह सम्बन्ध अनित्य
जहाँ घट और रज्जु, ये दोनों युतसिद्ध हैं, अर्थात्
विशेष में दोनों एक-साथ जुट गये हैं। अतः,
रहने का नहीं। घट और रज्जु का विभाग होने
ाय सम्बन्ध में यह बात नहीं। वह न कभी उत्पन्न
न सम्बन्ध है।

ेर समवाय में निम्नलिखित भेद हैं—

ं होता है; समवाय 'अयुतसिद्ध' वस्तुओं में।
विद्यमान थे। उनका जुड़ जाना ही युतसिद्धि या
। जोड़े नहीं गये, अर्थात् जो सर्वदा से संलग्न हैं *।
थे, उनका नित्य आधाराधेय सम्बन्ध ही अयुतसिद्धि
यह लक्षण है कि उनमें जब तक एक का विनाश
त रहता है ‡।

—त० प०।

न्धः अयुतसिद्धिः। —त० प०

ावतिष्ठते तौ एव द्वौ अयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ।" —तर्कसमह।

कर्म से भेद लक्षित करने के लिये विशेष की परिभाषा में '*सामान्य रहित*' विशेषण जोड़ा गया है।

इस प्रकार *सामान्यरहित* और *एकव्यक्तिवृत्ति* इन दोनों शब्दों से—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव—ये सभी पदार्थ छँट जाते हैं और केवल *विशेष*-मात्र अवशिष्ट रह जाता है।

नोट—मीमांसा, वेदान्त प्रभृति दर्शन 'विशेष' को नहीं मानते। कणाद ने ही प्रथमतः पदार्थों की गणना में विशेष को स्थान दिया है। प्रायः इसी कारण से उनके दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा है।

विशेष का ज्ञान—विशेष का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसके उत्तर में प्रशस्तपाद कहते हैं कि जिस प्रकार हमें (साधारण मनुष्यों को) द्रव्य, गुण और कर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, उसी प्रकार योगियों को विशेष भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार हमें घोड़े और बैल में भेद दिखाई देता है, उसी प्रकार उन्हें एक परमाणु से दूसरे परमाणु में अन्तर दिखाई देता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा वे पूर्व में देखे हुए किसी परमाणु को दुबारा कहीं देखने पर पहचान जा सकते हैं। इसी तरह *योगिक शक्ति* से किसी खास आत्मा या मन का भी साक्षात्कार और प्रत्यभिज्ञान (पहचान) हो सकता है।*

---

* यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनककुद्मान् महाघण्ट इति। तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु च अन्यनिमित्तासम्भवात् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषाः।

—प्रशस्तपाद भाष्य।

समवाय

[समवाय का अर्थ—संयोग और समवाय—समवाय सम्बन्ध का स्वरूप—समवाय के उदाहरण]

समवाय का अर्थ—

"नित्यसम्बन्धः समवायः"

समवाय उस सम्बन्ध का नाम है जो दो वस्तुओं में सर्वदा से मौजूद है और कभी टूट नहीं सकता। घट में जो 'घटत्व' का सम्बन्ध है वह नित्य और अचल है। इस सम्बन्ध का कभी विच्छेद नहीं हो सकता। जहाँ घट रहेगा वहाँ घटत्व रहेगा ही।

संयोग के द्वारा भी दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है। किन्तु वह सम्बन्ध अनित्य होता है। जैसे घट और रज्जु का संयोग। यहाँ घट और रज्जु, ये दोनों *युतसिद्ध* हैं, अर्थात् संयोग के पूर्व वे दोनों पृथक्-पृथक् थे। समय-विशेष में दोनों एक-साथ जुट गये हैं। अतः, यह सम्बन्ध सर्वदा से नहीं है और सर्वदा रहने का नहीं। घट और रज्जु का विभाग होने पर यह सम्बन्ध नष्ट हो जायगा। किन्तु समवाय सम्बन्ध में यह बात नहीं। वह न कभी उत्पन्न होता है, न विनष्ट। वह अनादि और अनन्त सम्बन्ध है।

संयोग और समवाय—संयोग और समवाय में निम्नलिखित भेद हैं—

(१) संयोग 'युतसिद्ध' वस्तुओं में होता है; समवाय 'अयुतसिद्ध' वस्तुओं में। युतसिद्ध पदार्थ वे हैं जो पहले पृथक्-पृथक् विद्यमान थे। उनका जुड़ जाना ही युतसिद्धि या संयोग है। अयुतसिद्ध पदार्थ वे हैं जो कभी जोड़े नहीं गये, अर्थात् जो सर्वदा से संलग्न हैं*। जो पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् विद्यमान नहीं थे, उनका नित्य आधाराधेय सम्बन्ध ही अयुतसिद्धि या समवाय है†। अयुतसिद्ध वस्तुओं का यह लक्षण है कि उनमें जब तक एक का विनाश नहीं होता तब तक वह दूसरे में ही आश्रित रहता है‡।

---

* ('पृथक्) विद्यमानयोः सम्बन्धो युतसिद्धिः। —स० प०।

† (पृथक्) अविद्यमानयोः आधाराधेययोः सम्बन्धः अयुतसिद्धिः। —स० प०

‡ "ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यद् अपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ एव द्वौ अयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ।" —तर्कसंग्रह।

(२) दूसरे शब्दों में यों कहिये कि संयुक्त पदार्थ पहले पृथक्-पृथक् रहते हैं। किन्तु समवेत पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते।

(३) संयोग विभाग के द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध कभी नष्ट होनेवाला नहीं है।

(४) संयोग दो स्वतन्त्र वस्तुओं में होता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध आधार और आधेय (परतन्त्र) में ही हो सकता है।

(५) संयोग एक पक्ष या उभय पक्षों के कर्म से उत्पन्न होता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध किसी के कर्म से उत्पन्न नहीं होता।

(६) समवाय से सम्बद्ध वस्तुएँ एक दूसरी से अलग नहीं की जा सकतीं। जब तक उनका अस्तित्व है तब तक उनका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। घट का रूप कभी घट से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम घट को नष्ट भले ही कर डालें, किन्तु उसके रहते हुए घटत्व को उससे बाहर नहीं कर सकते।

(७) संयोग बाह्य और कृत्रिम सम्बन्ध (Accidental Conjunction) है। समवाय आन्तरिक और नैसर्गिक (Essential Connection) सम्बन्ध है। फूल पर भ्रमर आकर बैठता है। यह संयोग है। फूल में सुगन्ध रहती है। यह समवाय सम्बन्ध है।

संयोग और समवाय के उपर्युक्त भेदों को प्रशस्तपाद ने इन शब्दों में समझाया है—

"न चासौ संयोगः (१) सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात् (२) अन्यतरकर्मादिनिमित्ता-संभवात् (३) विभागान्तरत्वात् (४) प्रदर्शनाधिकरणाधिकर्त्तव्ययोरेव भावात् इति।"

—पदार्थधर्मसंग्रह

समवाय सम्बन्ध का स्वरूप—प्रशस्तपाद कहते हैं—

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः।"

"यह वस्तु उसमें (नित्य वर्त्तमान) रहती है" ऐसा ज्ञान जहाँ हो, वहाँ समवाय सम्बन्ध समझना चाहिये। धर्म और सुख में समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उन दोनों में आधाराधेय भाव नहीं है। (वे दोनों ही आत्मा में रहते हैं।) इसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे अयुतसिद्ध नहीं हैं। समवाय के लिये अयुतसिद्धि और आधाराधेय सम्बन्ध—इन दोनों का होना आवश्यक है।

समवाय (सत्ता की तरह) एक ही माना गया है—संयोग की तरह यह अनेक नहीं होता। समवाय की एकता के पक्ष में यह युक्ति दी गई है कि समवाय अवयव अवयवी में हो, या जाति व्यक्ति में, किन्तु इसका स्वरूप सर्वत्र एक ही (आधाराधेयात्मक) रहता है।

"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।"

—वै०सू० (७।२।२६)

समवाय नित्य माना जाता है। संयोग संयुक्त वस्तुओं का नाश हो जाने पर—या उनके रहते हुए भी—विनष्ट हो जाता है। किन्तु समवाय सम्बन्धियों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह सत्ता की तरह स्वतन्त्र और स्वात्मवृत्ति होता है। द्रव्य में गुण कर्मादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। किन्तु स्वतः समवाय किस सम्बन्ध से रहता है ? यदि कहें कि समवाय का द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है तो अनवस्था आ जाती है घट में घटत्व समवेत है, किन्तु इस-समवाय सम्बन्ध का भी घट में समवाय नहीं माना जा सकता; क्योंकि समवाय एक ही है। समवाय संयोग-सम्बन्ध से भी नहीं रह सकता, क्योंकि संयोग द्रव्याश्रित गुण है। उसकी वृत्ति द्रव्यातिरिक्त पदार्थ (समवाय) में नहीं हो सकती। अतः, समवाय न संयुक्त हो सकता है न समवेत। यह अपने ही स्वरूप में अवस्थित रहता है। इसकी वृत्ति स्वतन्त्र और निरपेक्ष होती है। जिस प्रकार घट में सत्ता की वृत्ति स्वाधीन है, किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर नहीं करती, उसी प्रकार द्रव्यादि में समवाय की वृत्ति भी स्वाधीन है। अतएव समवाय सम्बन्ध की 'स्वात्म-वृत्ति' समझना चाहिये। *

समवाय सम्बन्ध अतीन्द्रिय होता है। अतः उसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नहीं। अनुमान के द्वारा ही हम इसका (समवाय का) ज्ञान प्राप्त करते हैं। †

समवाय के उदाहरण—समवाय सम्बन्ध निम्नलिखित वस्तुओं में होता है ‡ —

(१) *अवयव और अवयवी में*—जैसे, तन्तु और वस्त्र में। तन्तु (सूत) अवयव है, और वस्त्र अवयवी। इन दोनों में समवाय सम्बन्ध है; क्योंकि वस्त्र कभी सूतों से पृथक् नहीं था और न कभी पृथक् रह सकता है। वह सूतों में ही समवेत रहता है।

(२) *गुण और गुणी में*—जैसे, अग्नि और उष्णत्व में। उष्णत्व गुण है और अग्नि उसका आश्रय द्रव्य (गुणी) है। अग्नि में उसका गुण सर्वदा से मौजूद है। यह गुण कभी

---

* अतएवातीन्द्रिय. सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात् स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवायः।

—प्रशस्तपाद भाष्य

† "कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते। न संयोगः सम्भवति तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। नापि समवायस्यैकत्वात् न चान्या वृत्तिरस्तीति। न। तादात्म्यात्। यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति। एवमविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति तस्मात् स्वात्मवृत्तिः।"

—प्रशस्तपाद भाष्य

‡ घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः परिकीर्तितः।

—भाषापरिच्छेद

अग्नि से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः, अग्नि में उष्णत्व गुण समवेत रूप से विद्यमान है।

(३) *क्रिया और क्रियावान् में*—जैसे, वायु और उसकी गति में। यहाँ वायु क्रियावान् है। गति उसकी क्रिया है। क्रिया कभी अपने आधारभूत द्रव्य से पृथक् नहीं की जा सकती। वह सर्वदा द्रव्य में आधेय-रूप से रहती है। अतः, गुण की तरह कर्म भी स्वाश्रय द्रव्य में समवेत रहता है।

(४) *जाति और व्यक्ति में*—जैसे गोत्व जाति गोव्यक्तियों में समवेत रहती है।

(५) *विशेष और नित्य द्रव्य में*—जैसे आकाश में आकाशत्व (विशेष) समवेत रहता है।

अभाव

[अभाव पदार्थ—अभाव की परिभाषा-चार तरह के अभाव सामयिकाभाव—अभाव का ज्ञान]

अभाव पदार्थ—महर्षि कणाद ने पदार्थों की सूची में अभाव का नाम नहीं दिया है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी कणादोक्त छः पदार्थों की ही विवेचना की गई है। किन्तु कालान्तर में अभाव भी पदार्थों की श्रेणी में आ गया और इस तरह वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने जाने लगे।

अभाव पदार्थ कहा जा सकता है या नहीं—इस प्रश्न को लेकर काफी खण्डन-मण्डन किया गया है। यदि पदार्थ शब्द से केवल सत्तात्मक (Existent) वस्तुओं का ग्रहण हो, तब अभाव पदार्थ नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि पदार्थ शब्द से ज्ञेय (knowable) मात्र का बोध हो तो अभाव भी पदार्थ-कोटि में आ जाता है। इसी व्यापक अर्थ में अभाव पदार्थ माना गया है। सप्तपदार्थवादियों का कहना है कि कणाद तथा भाष्यकार (प्रशस्तपाद) को भाव पदार्थों का वर्णन करना ही अभीष्ट था। अतएव उन्होंने केवल छः नाम गिनाये हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभाव कोई चीज ही नहीं है। हमें भाव की तरह अभाव का भी ज्ञान होता है। अतः, वह भी ज्ञान का विषय होने से पदार्थ है *।

न्याय-वैशेषिक में भाव को अभाव का प्रतियोगी (Opposite cor-relative) माना गया है। *भाव का निषेध ही अभाव है और अभाव का निषेध ही भाव है।* अतः, दोनों समकक्ष हैं। एक ही बात को हम भाव या अभाव दोनों कह सकते हैं। *'घट है'*—यह वाक्य भावात्मक है। इसी को हम अभावात्मक रूप से प्रकट कर सकते हैं। जैसे—*'घट का अभाव नहीं है।'* इसी तरह, *'घट नहीं है'*—यह निषेधात्मक वाक्य है। इसके बदले में हम कह सकते हैं—*'घट का अभाव है।'* तब यह अस्त्यात्मक वाक्य हो जायगा।

---

* देखिये 'पदार्थ' का प्रकरण।

इस प्रकार अभाव का भी भाव और अभाव दोनों कहा जा सकता है। **मीमांसकों** ने इस मत में दोष दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि यदि अभाव का अभाव मानते हैं तो फिर उसका भी अभाव मानना पड़ेगा और इस तरह अनवस्था (Infinite regress) आ जायगी। इसके उत्तर में **प्राचीन नैयायिकों** ने यह कहा है कि अभाव का अभाव भाव बन जाता है। इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता। **नवीन नैयायिक** इस बात को स्वीकार नहीं करते। किन्तु इतना वे भी मानते हैं कि अभाव के अभाव का अभाव प्रथम अभाव के तुल्य होता है।

अभाव की परिभाषा—सप्तपदार्थी में अभाव की परिभाषा यों है—

"प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः।"

अर्थात् जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोधी) के ज्ञान के विना नहीं हो सके, उसको *'अभाव'* जानना चाहिये। घटज्ञान के विना घटाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। अभाव का ज्ञान सर्वदा भावज्ञान पर निर्भर रहता है। भाव स्वत. जाना जाता है, किन्तु अभाव कभी स्वत॰ नहीं जाना जा सकता। यही अभाव पदार्थ की विशेषता है।

संयोग, समवाय आदि का ज्ञान भी सापेक्ष है; क्योंकि यह भी अनुयोगी-प्रतियोगी के ज्ञान पर निर्भर रहता है। सम्बन्धियों को जाने विना हम संयोग या समवाय को नहीं जान सकते। किन्तु इनमें और अभाव में भेद है। अभाव का ज्ञान उसके विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर ही अवलम्बित रहता है। किन्तु संयोग वा समवाय में यह बात नहीं है। अत॰, अभाव की परिभाषा में 'प्रतियोगी' शब्द से केवल *निरूपक* नहीं समझकर *'विरोधी'* का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

चार तरह के अभाव—अभाव चार प्रकार [illegible] माना गया है।—(१) *प्रागभाव*, (२) *प्रध्वंसाभाव*, (३) *अत्यन्ताभाव* और (४) [illegible]।

(१) *प्रागभाव* (*Prior Non-existenc*

समझा जायगा। जब तक यह उत्पन्न नहीं हुआ है तब तक तो उसका अभाव ही है। ऐसे अभाव को '*प्रागभाव*' कहते हैं। घट जब तक उत्पन्न नहीं होता, तब तक उसका अभाव ही कहा जायगा। यह अभाव कब से आ रहा है? यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक समय में इस अभाव का जन्म हुआ। यह अभाव तो अनादिकाल से ही आ रहा है और इस अभाव का अन्त कब होता है?—जब घट उत्पन्न होकर अस्तित्व प्राप्त करता है। घट का भाव होने से ही घटाभाव का अन्त हो जाता है। इस तरह घट का जो प्रागभाव है वह अनादि, किन्तु सान्त, है। अतः, प्रागभाव का लक्षण कहा गया है—

"*अनादिः सान्तः प्रागभावः।*"

न्याय-वैशेषिक का कहना है कि आरम्भ होने के पहले कार्य का सर्वदा अभाव था। वह कारण-विशेष से किसी खास समय में उत्पन्न होता है। यही उसका प्रथमारम्भ है। इस मत को '**आरम्भवाद**' कहते हैं। कार्यारम्भ उसके प्रागभाव का नाशक होता है। अतः, कार्य की परिभाषा है—

"*प्रागभावप्रतियोगि कार्यम्।*"

कार्य उसे कहते हैं जो अपने प्रागभाव का प्रतियोगी (विरोधी या अन्तक) हो।

(२) प्रध्वंसाभाव (*Posterior Non-existence*)—

"*विनाशानन्तरं कार्यस्य।*"

कार्य का विनाश हो जाने पर जो उसका (कार्य का) अभाव हो जाता है, उसे '*प्रध्वंसाभाव*' कहते हैं। जब घड़ा नष्ट हो जाता है तब हम कहते हैं—'*घटोध्वस्तः*' अथवा '*घटध्वंसो जातः।*' इससे विदित होता है कि अब घट का भाव समाप्त हो गया और उसका अभाव शुरू हो गया। घट का यह अभाव प्रध्वंसाभाव कहलाता है। घट का विनाश होने के समय से यह अभाव शुरू हुआ है। अतएव यह सादि है। और, इस अभाव का अन्त कब होगा? कभी नहीं। क्योंकि वह घट तो फिर कभी लौट नहीं सकता। और, जब उस घट का पुनर्भाव असंभव है, तब फिर उसका अभाव कैसे दूर होगा? अतः, यह अभाव अनन्तकाल तक बना रहेगा। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव सादि, किन्तु अनन्त, है। अतएव लक्षणकारों ने कहा है—

"*सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः।*"

इस प्रकार अभाव का भी भाव और अभाव दोनों कहा जा सकता है। मीमांसकों ने इस मत में दोष दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि यदि अभाव का अभाव मानते हैं तो फिर उसका भी अभाव मानना पड़ेगा और इस तरह अनवस्था (Infinite regress) आ जायगी। इसके उत्तर में प्राचीन नैयायिकों ने यह कहा है कि अभाव का अभाव भाव बन जाता है। इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता। नवीन नैयायिक इस बात को स्वीकार नहीं करते। किन्तु इतना वे भी मानते हैं कि अभाव के अभाव का अभाव प्रथम अभाव के तुल्य होता है।

अभाव की परिभाषा—सप्तपदार्थी में अभाव की परिभाषा यों है—

"प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः।"

अर्थात् जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोधी) के ज्ञान के विना नहीं हो सके, उसको '*अभाव*' जानना चाहिये। घटज्ञान के विना घटाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। अभाव का ज्ञान सर्वदा भावज्ञान पर निर्भर रहता है। भाव स्वतः जाना जाता है, किन्तु अभाव कभी स्वतः नहीं जाना जा सकता। यही अभाव पदार्थ की विशेषता है।

संयोग, समवाय आदि का ज्ञान भी सापेक्ष है; क्योंकि वह भी अनुयोगी-प्रतियोगी के ज्ञान पर निर्भर रहता है। सम्बन्धियों को जाने विना हम संयोग या समवाय को नहीं जान सकते। किन्तु इनमें और अभाव में भेद है। अभाव का ज्ञान उसके विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर ही अवलम्बित रहता है। किन्तु संयोग वा समवाय में यह बात नहीं है। अतः, अभाव की परिभाषा में 'प्रतियोगी' शब्द से केवल *निरूपक* नहीं समझकर '*विरोधी*' का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

चार तरह के अभाव—*अभाव चार प्रकार का माना गया है।—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव और (४) अन्योन्याभाव।*

(१) प्रागभाव (*Prior Non-existence*)

"उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य"

—त० दी०

कार्य की उत्पत्ति के पहले जो उसका अभाव रहता है, उसको *प्रागभाव* कहते हैं। मान लीजिये, कुम्हार एक घड़ा तैयार करने को है। वह मिट्टी वगैरह तैयार कर चुका है। थोड़ी ही देर में घड़ा बन जायगा। आप कहते हैं—"*अत्र घटो भविष्यति*" इससे मालूम होता है कि घट अभी नहीं है, कुछ देर के बाद होगा। घट जब उत्पन्न होगा तब तो उसका अस्तित्व

और अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्ध को लेकर। अन्नम् भट्ट ने इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट शब्दों में सूचित किया है—

> *"संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अत्यन्ताभावः।*
> *तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अन्योन्याभावः।"*
>
> —तर्कसंग्रह।

सामयिकाभाव (*Temporary Non-existence*)—कुछ प्राचीन आचार्यों ने अभाव का एक और भेद माना है। वह है 'सामयिकाभाव'। मान लीजिये, भूतल पर घट रक्खा है। थोड़ी देर के लिये आप घट को वहाँ से हटा देते हैं। तब उस स्थान पर घट का अभाव हो जाता है। यहाँ घट का भाव (स्थानान्तर में) बना हुआ है; किन्तु उस स्थान-विशेष में घट का अभाव हो गया है। ऐसे अभाव को 'सामयिकाभाव' कहा गया है। यह अभाव प्रध्वंसाभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि घट का प्रध्वंस नहीं हुआ है। यह प्रागभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घट उत्पन्न हो चुका है। अत्यन्ताभाव भी इसे नहीं कह सकते; क्योंकि यह अभाव नित्य नहीं है। अन्योन्याभाव तो यह हो ही नहीं सकता; क्योंकि इसकी प्रतियोगिता तादात्म्य को लेकर नहीं है। इसलिये यह पृथक् भेद माना गया है।

किन्तु आधुनिक ग्रन्थकार इस पाँचवें भेद को स्वीकार नहीं करते। सप्तपदार्थी, भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह आदि में अभाव के चार ही भेद वर्णित हैं। विश्वनाथ पंचानन दिखलाते हैं कि सामयिकाभाव अत्यन्ताभाव के अन्तर्गत ही आ जाता है। "*भूतले घटो नास्ति*" (पृथ्वी पर घड़ा नहीं है)—यह अत्यन्ताभाव का उदाहरण है; क्योंकि भूतल में घटत्व का त्रैकालिक अभाव है। भूतल पर घड़ा रख देने से वह अभाव (उतने समय के लिये) छिप भले ही जाय; किन्तु वस्तुतः दूर नहीं हो सकता। घड़ा हटा देने से फिर वह अभाव स्पष्टतया अभिव्यक्त हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र ने अभाव को पहले दो कोटियों में विभक्त किया है—(१) *तादात्म्याभाव* और (२) *संसर्गाभाव*। फिर संसर्गाभाव के तीन अवान्तर भेद किये गये हैं—(१) *प्रागभाव*, (२) *प्रध्वंसाभाव* और (३) *अत्यन्ताभाव*। भाषापरिच्छेदकार ने भी इसी वर्गीकरण का अनुसरण किया है।

(३) अत्यन्ताभाव (*Absolute Non-existence*)—

"*त्रैकालिक संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः।*"

जहाँ तीनों काल (भूत, वर्त्तमान, भविष्य) में संसर्ग का अभाव पाया जाय, वहाँ '*अत्यन्ताभाव*' जानना चाहिये। जैसे, "वायु में रूप नहीं है।" यहाँ वायु में रूप का भाव न है, न कभी था, न कभी होगा। वायु में रूप का यह अभाव सामयिक नहीं, किन्तु नित्य-शाश्वत है। इस त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। प्रध्वंसाभाव का आदि होता है। प्रागभाव का अन्त होता है। किन्तु, अत्यन्ताभाव का कभी आदि-अन्त नहीं होता। अतः कहा गया है—

"*अनादिरनन्तोऽत्यन्ताभावः।*"

अत्यन्ताभाव से वस्तुओं का अभाव नहीं, किन्तु उनके संसर्ग (relation) का अभाव सूचित होता है। यथा उपर्युक्त उदाहरण में वायु अथवा रूप का अभाव नहीं है, किन्तु उन दोनों में संसर्ग अर्थात् समवाय सम्बन्ध का अभाव है। अतः, इस अभाव को '*समवायाभाव*' भी कहते हैं।

(४) अन्योन्याभाव (*Reciprocal Non-existence*)—

"*तादात्म्यनिषेधोऽत्यन्ताभावः।*"

जहाँ दो वस्तुओं में पारस्परिक भिन्नता रहती है वहाँ *अन्योन्याभाव* जानना चाहिये। जैसे, "घटः पटोनास्ति" (घट पट नहीं है।) यहाँ घट से पट की भिन्नता और पट से घट की भिन्नता जाहिर होती है। दोनों में ऐक्य या तादात्म्य नहीं है। इस अभाव को '*अन्योन्याभाव*' कहते हैं।

अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव में भेद है—

अन्योन्याभाव का उदाहरण होगा—"*घटः पटो न*" (*घट पट नहीं है*)।

अत्यन्ताभाव का उदाहरण होगा—"*घटे पटत्वं न*" (*घट में पटत्व नहीं है*)।

इन दोनों का अन्तर स्पष्ट है। अत्यन्ताभाव में '*संसर्ग*' का निषेध रहता है और अन्योन्याभाव में '*तादात्म्य*' का निषेध रहता है।

अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होगा—'*घट में पटत्व है*' (संसर्ग)।

अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होगा—'*घट पट है*' (तादात्म्य)।

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता संसर्ग को लेकर होती है,

भूतल में घट नहीं है।

यहाँ हम घट का अभाव नहीं देखते, केवल रिक्त भूतलमात्र देखते हैं। अतः प्राभाकरों का कहना है कि जिसे हम अभाव कहते हैं वह और कुछ नहीं *केवलाधिकरण* (शून्य आधार) मात्र है।

किन्तु इसके उत्तर में न्यायवैशेषिकवाले कहते हैं कि यदि अभाव केवल अनुयोगी (आधार) का शून्यत्व (emptiness) मात्र है तो फिर हमें विशिष्ट प्रतियोगी (आधेय) के नहीं होने का ज्ञान क्योंकर प्राप्त होता है? प्रतियोगिताज्ञान के बिना अभाव-ज्ञान नहीं हो सकता। और केवल रिक्त अधिकरण से प्रतियोगिता का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः, केवल आधार मात्र के प्रत्यक्ष से ही अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो हमें भूतल में घट, पट, हाथी, घोड़ा, आम, कटहल, आदि असंख्य वस्तुओं का अभाव एक ही समय में प्रत्यक्ष हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक समय में एक ही विषय का अभाव हमें जान पड़ता है। अतएव अभावज्ञान केवल प्रत्यक्षमूलक नहीं माना जा सकता।

अभाव का ज्ञान—

तब फिर अभाव का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न को हल करने के लिये भट्टमीमांसक और वेदान्ती विशेष प्रकार का साधन मानते हैं।

"कमरे में हाथी नहीं है।"

ऐसा ज्ञान हमें क्योंकर प्राप्त होता है? प्रत्यक्ष के द्वारा यह ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि कमरे में हाथी का अभाव है और अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। अनुमान के द्वारा भी यह ज्ञान नहीं होता। क्योंकि अनुमान के लिये लिंग (चिह्न)-दर्शन और व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता रहती है, और सो यहाँ नहीं है। इसलिये अभाव-ज्ञान के लिये एक विशेष प्रकार का साधन मानना पड़ता है। इसका नाम *'अनुपलब्धि'* है (Non-cognition)।

इस विषय में न्याय-वैशेषिक वाले मध्यम मार्ग ग्रहण करते हैं। वे अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। उसे प्रत्यक्ष का सहायकमात्र मानते हैं। *कमरे में हाथी नहीं है।* ऐसा ज्ञान हमे क्यों होता है? यदि कमरे मे हाथी रहता तो वह अवश्य दिखलाई पड़ता। किन्तु वह नहीं दिखलाई पड़ता है। इसको *'योग्यानुपलब्धि'* कहते हैं।

नव्यन्याय में अभाव की विशद विवेचना की गई है।* अभाव को अच्छी तरह समझने के लिये इन पाँच अङ्गों का ज्ञान आवश्यक है—(१) *प्रतियोगी* (२) *अनुयोगी* (३) *प्रतियोगितावच्छेदक धर्म* (४) *अनुयोगिता* (५) *प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध*।

एक उदाहरण लीजिये।

"जले गन्धो नास्ति।"

यह अत्यन्ताभाव है। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग यों समझिये।

(१) *प्रतियोगी*—अभाव किसका है? गन्ध का। अतः, यहाँ *'गन्ध'* प्रतियोगी है।

(२) *अनुयोगी*—अभाव किसमें है? जल में। अतः, यहाँ *'जल'* अनुयोगी है।

(३) *प्रतियोगितावच्छेदक धर्म*—अभाव की प्रतियोगिता किसी खास गन्ध में है अथवा गन्ध मात्र में? यहाँ गन्धविशेष नहीं, किन्तु *गन्धत्व जाति* ही अभिप्रेत है। अतः, इसको *प्रतियोगितावच्छेदक धर्म* समझना चाहिये।

(४) *अनुयोगिता*—गन्ध का अभाव किसी खास जल में है अथवा जलमात्र में? यहाँ अभाव की वृत्ति जल के सम्पूर्ण देश में है। अतः, अनुयोगितावच्छेदक धर्म है *'जलत्व'*, (न कि एतज्जलत्व)।

(५) *प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध*—गन्ध के संयोग-सम्बन्ध का निषेध किया गया है अथवा समवाय-सम्बन्ध का? गन्ध जल में समवेत नहीं है। समवाय-सम्बन्ध से गन्ध का अभाव जल में बतलाया गया है। अतः, यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है *समवाय* (न कि संयोग)।

अतः न्यायवैशेषिक की भाषा में उपर्युक्त अभाव इन विशेषणों के द्वारा प्रकट किया जायगा—

"गन्धत्वावच्छेदक धर्मावच्छिन्न समवायावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठ प्रतियोगिता-निरूपित जलनिष्ठानुयोगितानिरूपित अभाव।"

न्याय-वैशेषिक की तरह भट्टमीमांसा में भी अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। भट्टमीमांसक कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं—(१) *भावात्मक* और (२) *अभावात्मक*। उसमें कुछ गुणों का भाव रहता है और कुछ गुणों का अभाव रहता है। दोनों समान रूप से सत्य हैं। अतः, अभाव को भी भाव की तरह वस्तुधर्म समझना चाहिये। प्राभाकर मीमांसा अभाव का पदार्थत्व स्वीकार नहीं करती है।

* अभाव के सूक्ष्मभेद भीमाचार्य के न्यायकोश में देखिये।

परमाणुवाद

[परमाणु का स्वरूप—अणु और महत्त्व—परमाणुओं के प्रभेद—पाकज गुण]

परमाणुवाद

परमाणु का स्वरूप—

संसार में जितनी वस्तुओं को हमलोग देखते हैं, वे सावयव हैं। अर्थात् वे भिन्न-भिन्न अवयवों के संयोग से बने हैं। घट क्या है? मृत्तिका के कणों का समुदायविशेष। पट क्या है? सूत के धागों का समुदायविशेष। इसी तरह जितनी चीजें देखने में आती हैं, वे सभी सावयव हैं। उनके अवयव पृथक् पृथक् किये जा सकते हैं। हम घड़े को फोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं। कपड़े को फाड़कर सूतों को अलग-अलग कर सकते हैं। इस प्रकार अवयवों का छिन्न-भिन्न होना ही नाश कहलाता है। अतएव जितने भी सावयव द्रव्य हैं उनका विभजन के द्वारा विनाश सभव है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि कार्यद्रव्य अनित्य होते हैं।

घड़े को फोड़कर आप टुकड़े-टुकडे कर डालते हैं। किन्तु ये टुकड़े भी सावयव (कार्य) हैं। अतः, उनका भी विभजन सभव है। अर्थात् इन टुकड़ों के भी टुकड़े किये जा सकते हैं। इसी तरह आप टुकड़ों के टुकड़े और फिर उनके भी टुकडे करते चले जाते हैं। अन्ततोगत्वा ये टुकड़े इतने महीन हो जाते हैं कि आप उन्हें दो भागों में विभक्त नहीं कर सकते। धूलि के एक कण को ले लीजिये। वह इतना महीन है कि आप किसी तरह उसको तोड़ नहीं सकते; किन्तु यदि हमें कोई ऐसा महीन धार का औजार मिल जाय जो बाल को भी बीचों बीच चीर सके तो हम उस कण का भी छेदन कर सकते हैं। अर्थात् उस कण का विभाग दुर्गम होते हुए भी बुद्धिगम्य है।

यह अभावज्ञान दो बातों पर निर्भर करता है—

(१) कमरे का प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception)

(२) हाथी विषयक योग्यानुपलब्धि (Non-perception of the perceptible)। अतः, केवल प्रत्यक्ष या अनुपलब्धि अभावज्ञान का कारण नहीं है। दोनों के सहयोग से अभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है।

नोट—संसर्गाभाव प्रतियोगी के प्रत्यक्ष-साध्य होने से, और अन्योन्याभाव अनुयोगी के प्रत्यक्ष-साध्य होने से दिखलाई पड़ता है। जैसे, भूतल में हम घट का अभाव देख सकते हैं, किन्तु आत्मा का अभाव नहीं देख सकते। इसी तरह 'घट आकाश नहीं है' यह भेद दृष्टिगोचर होता है, किन्तु 'दिक् आकाश नहीं है' यह भेद दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, शब्द तथा उपमान प्रमाणों के द्वारा भी अभाव का ज्ञान हो सकता है।

—::❀::—

"परं वा त्रुटेः"
—न्या. सू. ४।२।१७

अर्थात् जो सूक्ष्मता के कारण त्रुटि (टूटने) से परे है वही परमाणु कहलाता है।

परमाणु निरवयव और अविभाज्य है। अतः, उसका नाश नहीं हो सकता। वह अविच्छेद्य है। घट पट आदि कार्यद्रव्यों का विनाश हो सकता है, क्योंकि वे सावयव हैं। किन्तु उनके मूलभूत कारणद्रव्यों का (परमाणुओं का) विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि वे निरवयव हैं। इसीलिये द्रव्यों के प्रकरण मे यह कहा जा चुका है कि पृथ्वी, जल आदि द्रव्य कार्य रूप में अनित्य हैं, किन्तु परमाणु रूप से नित्य हैं।

अणु और महत्त्व—

जितने चाक्षुप द्रव्य (दृष्टिगोचर पदार्थ) हैं, सब में कुछ-न-कुछ परिमाण (magnitude) रहता ही है। किसी का परिमाण बड़ा होता है किसी का छोटा। सबसे बड़े परिमाणवाले द्रव्य को विभु (सर्वव्यापक) तथा सबसे अल्प परिमाणवाले द्रव्य को अणु कहते हैं। परिमाण की सबसे ऊँची पराकाष्ठा को परम महत्त्व कहते हैं और सबसे नीची पराकाष्ठा को परमाणुत्व। ये दोनों ही प्रत्यक्ष से परे और अनुमेय हैं। इन दोनों सीमाओं के मध्यवर्त्ती परिमाणवाले पदार्थ ही हमलोगों को दृष्टिगोचर होते हैं। झरोखे से आती हुई सूर्य किरणों में उड़नेवाली सूक्ष्म रेणु का परिमाण क्षुद्रातिक्षुद्र होता है। इनमें केवल नाममात्र का महत्त्व है। किन्तु इन रेणुओं को भी अवयवी मानना पड़ेगा, क्योंकि ये भी घट की तरह दृश्य पदार्थ हैं। और जिस तरह घट के अवयव (कपाल आदि) भी सावयव होते हैं, उसी तरह इन रेणुओं के अवयवों को भी सावयव मानना पड़ेगा। क्योंकि अनुभव के आधार पर यह बात सिद्ध है कि जिन अवयवों के संयोग से महत्त्व की उत्पत्ति होती है, वे स्वतः भी सावयव होते हैं।*

अब इस बात को यों समझिये।

रश्मि-रेणु में स्वल्पतम महत्त्व पाया जाता है। इस स्वल्पतम महत्त्व को न्याय-वैशेषिक की भाषा में 'त्रुटि' (या त्रसरेणु) कहते हैं। इस त्रुटि के अवयव इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे देखे नहीं जा सकते। ये अवयव अणु कहलाते हैं। अणु में स्वतः महत्त्व नहीं होता (अणुत्व होता है)। किन्तु अणुओं के संयोग से महत्त्व बनता है। अर्थात् अणु स्वतः महत्त्वशून्य होते हुए भी महदारम्भक होते हैं। और यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि महदारम्भक अवयव स्वयं भी

* जालसूर्यमरीचिस्थं यत् सूक्ष्मतमं दृश्यते तद् सावयवम्; चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्। तदवयवोऽपि सावयवः, महदारम्भकत्वात् कपालवत्।

अब प्रश्न यह है कि यह विभजन क्रिया कहाँ तक जायगी ? इसका कहीं अन्त भी होगा या नहीं ? यदि कल्पना के सहारे हम कण का विभाग करते जायँ तो

$$\text{क} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{२}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{४}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{८}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{१६}} > \frac{\text{क}}{\text{३२}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{६४}} > \frac{\text{क}}{\text{१२८}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{२५६}} \rightarrow \frac{\text{क}}{\text{५१२}} \cdots\cdots\cdots$$

इस तरह अनन्त की ओर बढ़ते ही चले जायँगे। इस प्रक्रिया की कभी समाप्ति नहीं होगी। इसको अनवस्था कहते हैं। क्योंकि इसमें कहीं विराम या ठहरने की गुंजाइश नहीं है।

ऐसी अनवस्था में राई और पर्वत दोनों को तुल्य मानना पड़ेगा।* क्योंकि दोनों ही अनन्त विभाज्य हैं। जैसे—पर्वत के अवयव

$$\frac{\text{प}}{\text{२}} \rightarrow \frac{\text{प}}{\text{४}} > \frac{\text{प}}{\text{८}} \rightarrow \frac{\text{प}}{\text{१६}} \cdots\cdots\cdots$$

अनन्त है, उसी प्रकार राई के अवयव

$$\frac{\text{रा}}{\text{२}} \rightarrow \frac{\text{रा}}{\text{४}} \rightarrow \frac{\text{रा}}{\text{८}} \rightarrow \frac{\text{रा}}{\text{१६}} \cdots\cdots\cdots$$

भी अनन्त हैं। फिर दोनों के परिमाण में भेद कैसे सिद्ध होगा ?

अतः, अनवस्था के द्वारा आपेक्षिक लाघव और गौरव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। बात यह है कि बिना इकाई (Unit) के परिमाण या संख्या का निर्धारण नहीं हो सकता। और इकाई अनवस्था में कभी मिल नहीं सकती। इसलिये विभजन-क्रिया में कहीं-न-कहीं जाकर अवस्थान या विराम करना ही होगा। विभजन की एक चरम सीमा या अन्तिम अवधि मानना आवश्यक है। स्थूल वस्तु का विभाग करते-करते जब हम विभजन-क्रिया की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाते हैं, और ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु पर आते हैं जिसका विभाग होना असंभव है, तब हम उसे 'परमाणु' (Atom) की संज्ञा देते हैं।

परमाणु दो शब्दों से बना है—*परम* और *अणु*। अणु का अर्थ है छोटा। परम का अर्थ है जो नितान्त छोटा हो, जिसको तोड़कर हिस्से नहीं किये जा सकें, वही परमाणु है। इसीलिये गौतम परमाणु की परिभाषा में कहते हैं—

---

* "सर्वेषामनवस्थितावयवत्वे मेरुसर्षपयो तुल्यपरिमाणत्वापत्ति"

—न्यायकन्दली।

इन गुणों में और-और अनेकेन्द्रियग्राह्य हैं, किन्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये एकैकेन्द्रियग्राह्य हैं। इनमें जो परमाणु केवल स्पर्शवाला है उसे वायु कहते हैं। जिसमें वायु के साथ रूप भी है, वह तेज है। इन दोनों के साथ-साथ रस भी होने से जल जानना चाहिये। और जिसमें इन तीनों के साथ-साथ गन्ध भी विद्यमान हो उसे पृथ्वी समझना चाहिये। अतः पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परिचायक गुण हैं क्रमशः गन्ध, निर्गन्ध, रस, नीरस रूप, और अरूप स्पर्श।

कार्यद्रव्य बनते और बिगड़ते रहते हैं। इसलिये उनके साथ-साथ उनके गुण भी उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। किन्तु परमाणु नित्य शाश्वत हैं। अतएव उनके गुण भी सर्वदा स्थायी और अक्षुण्ण रहते हैं। परमाणु में जो गुण है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। किसी फूल को आप मसल कर नष्ट कर डालिये। उसके साथ-साथ उसका रूप-रस-गन्ध-स्पर्श भी नष्ट हो जायगा। किन्तु उस फूल के परमाणुओं में वे गुण अवश्य ही वर्त्तमान रहेंगे। उन्हें आप नष्ट नहीं कर सकते।

पाकजगुण—

उपादानभूत परमाणुओं में जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श रहते हैं, वे ही कार्य द्रव्यों में भी प्रकट होते हैं। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है। काली मिट्टी के परमाणुओं से बने वर्त्तन काले रंग के होते हैं। किन्तु वे ही बर्त्तन आग में पकाये जाने पर लाल क्यों हो जाते हैं? इसके उत्तर में न्यायवैशेषिककार कहते हैं कि तेज के संयोग से पृथ्वी में कुछ गुणविशेष का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसे पाकजगुण कहते हैं। जल, वायु और अग्नि में पाकज गुण नहीं होता।

पाकज गुण परमाणुओं के भीतर पैदा होता है या अवयवी द्रव्य में? इस प्रश्न को लेकर नैयायिकों और वैशेषिकों में मतभेद है। वैशेषिकों का मत है कि अग्नि का संयोग होने पर घट के समस्त परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं और फिर नवगुणोपेत होकर (पककर) वे संलग्न होते हैं। इस मत का नाम *'पीलुपाक'* है। नैयायिक इस मत का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यदि घट के सभी परमाणु अलग-अलग हो गये तब तो घट का विनाश ही हो गया। दुबारा परमाणुओं के जुटने से एक दूसरे ही घट का अस्तित्व मानना पड़ेगा। किन्तु पक जाने पर घट के स्वरूप में रंग के सिवा और कोई अन्तर नहीं पाया जाता। उसे देखते ही हम तुरत पहचान जाते हैं। इसलिये घट का नाश और घटान्तर का निर्माण नहीं माना जा सकता। घट-परमाणु उसी तरह संलग्न रहते हैं; किन्तु उनके बीच-बीच में जो छिद्रस्थल रहते हैं उनमें विजातीय अग्नि का प्रवेश हो जाने के कारण घट का रूपपरिवर्त्तन हो जाता है। इस मत का नाम *'पिठरपाक'* है।

सावयव होते हैं। अतएव इन अणुओं को भी सावयव मानना पड़ेगा। इन अणुओं के अवयव को 'परमाणु' कहते हैं। ये परमाणु निरवयव और अविभाज्य हैं। ये न महत्त्ववान् हैं और न महदारम्भक। ये अणुतम हैं। अर्थात् इनसे छोटा और कुछ नहीं हो सकता। इन परमाणुओं के आकार को विन्दुवत् माना गया है। अतः, इनकी आकृति 'पारिमाण्डल्य' कहलाती है।

जब दो परमाणु आपस में मिलते हैं तब द्व्यणुक (Dyad) बनता है। किन्तु यह द्व्यणुक भी इतना सूक्ष्म होता है कि इसका कुछ आयतन (Dimension) नहीं होता। तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु (Triad) की सृष्टि होती है। यहीं से आयतन या महत्त्व (magnitude) का श्रीगणेश होता है। पूर्वोक्त रश्मिरेणु में लघुतम आयतन देखने में आता है। अतः, उसे त्र्यणुक या त्रुटि का उदाहरण मानते हैं। इसके आगे जितने परिमाणु हैं, वे द्व्यणुकों की संख्या पर निर्भर करते हैं।

परमाणु के प्रभेद—

परमाणु अतीन्द्रिय हैं। उनके आकार-प्रकार नहीं देखे जा सकते। किन्तु कार्य के गुण देखकर कारण के गुण भी निर्धारित किये जा सकते हैं। क्योंकि जो गुण उपादान कारण में रहता है, वही कार्य में भी प्रकट होता है। परमाणु उपादानकारण हैं, अतएव उनके संयोग से उत्पन्न हुए कार्यद्रव्यों में वे ही गुण मौजूद रहेंगे जो कारणरूप परमाणुओं में हैं। कार्यद्रव्यों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये ऐसे गुण हैं जिनमें प्रत्येक का ज्ञान एक-एक इन्द्रिय के द्वारा होता है। इन्हीं गुणों के आधार पर परमाणुओं का वर्गीकरण किया गया है। परमाणु चार प्रकार के माने गये हैं—(१) *पार्थिव*, (२) *जलीय*, (३) *तैजस* और (४) *वायवीय*। इनके गुण इस प्रकार हैं—

परमाणु	सामान्य गुण	विशेष गुण
१ पृथ्वी	१ संख्या २ परिमाण ३ पृथक्त्व ४ संयोग ५ विभाग ६ परत्व ७ अपरत्व	१ गन्ध २ रस ३ रूप ४ स्पर्श ५ गुरुत्व ६ वेग ७ सांसिद्धिक द्रवत्व
२ जल	,,	१ रस २ रूप ३ स्पर्श ४ गुरुत्व ५ वेग ६ स्वाभाविक द्रवत्व ७ स्निग्धत्व
३ तेज	,,	१ रूप २ स्पर्श ३ द्रवत्व ४ वेग (संस्कार)
४ वायु	,,	१ स्पर्श २ वेग

अतएव कार्यकारण भाव नहीं माना जा सकता। कारण के लिये केवल पूर्ववर्त्ती होना ही नहीं, किन्तु नियत पूर्ववर्त्ती (Invariable antecedent) होना भी आवश्यक है। अतएव अन्नम् भट्ट कहते हैं—

"कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्"

कार्य से पूर्व जिसकी नियत वृत्ति हो वही कारण है। अर्थात् कार्य होने के पहले जो सर्वदा—नियमपूर्वक—मौजूद पाया जाय उसे ही कारण जानना चाहिये।

(३) अनन्यथासिद्धत्व (Unconditionality)—किन्तु इतना कहना भी पर्याप्त नहीं है। केवल नियत पूर्ववर्त्तित्व से ही कारणत्व नहीं आ जाता। घड़ा बनानेवाले कुम्हार का पिता घट का नियत पूर्ववर्त्ती रहता है। किन्तु वह घट का कारण नहीं माना जा सकता। अतः कारणत्व के लिये किसी और वस्तु की भी अपेक्षा है। यह है *अनन्यथासिद्धत्व*'।

अब अनन्यथासिद्ध का अर्थ समझिये। पहले अन्यथासिद्ध किसे कहते हैं?

"लघुनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तद्भिन्नम् अन्यथासिद्धम्।"

अर्थात् अन्यथासिद्ध उसे कहते हैं जिसका प्रस्तुत कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो। विश्वनाथ पंचानन पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध बतलाते हैं—

(१) येन सह पूर्वभावः।
(२) कारणमादाय वा यस्य।
(३) अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्।
(४) जनकं प्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
(५) अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः।
एते पञ्चान्यथासिद्धाः दण्डत्वादिकमादिमम्।

—भाषापरिच्छेद।

अब इनके उदाहरण लीजिये।

(१) घट के निर्माण में दण्ड (डंडा) सहायक होता है। किन्तु दण्ड में जो दण्डत्व जाति है, उससे घट की उत्पत्ति में कुछ सहायता नहीं मिलती। अतः उसे (दण्डत्व को) अन्यथासिद्ध (Accidental factor) जानना चाहिये।

कारण और कार्य

[कारण की परिभाषा—तीन प्रकार के कारण—समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारण—करण—कारणसामग्री—असत्कार्यवाद]

कारण की परिभाषा—

कारण उसे कहते हैं जो किसी कार्य को उत्पन्न करे।

शिवादित्य कहते हैं—

"*कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्*"

—सप्तपदार्थी

कारण के निम्न लक्षण होते हैं—

(१) *पूर्ववर्तित्व* (Antecedence)—कारण अपने कार्य से पूर्ववर्त्ती होता है। जिस प्रकार पुत्र पिता के बाद ही उत्पन्न हो सकता है, उसी प्रकार कार्य भी कारण के अनन्तर ही उत्पन्न हो सकता है।

(२) *नियतत्व* (Invariability)—किन्तु केवल पूर्ववर्त्ती होना ही कारणत्व का परिचायक नहीं है। मान लीजिये कहीं शंख बजा। उसके बाद तुरत ही एक पका हुआ फल पेड़ से गिर पड़ा। यहाँ शंख बजने के बाद फल गिरा है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि शंख बजने से फल गिरा है। क्योंकि जब-जब फल गिरता है तब-तब उसके पहले शंख तो नहीं बजता। यहाँ पौर्वापर्य रहते हुए भी *नियत पौर्वापर्य* (Invariable succession) नहीं है।

जिस कारण में कार्य समवेत रहता है, उसे 'समवायिकारण' कहते हैं। जैसे, घट का मृत्तिका के साथ समवायसम्बन्ध है। घट मृत्तिका से कभी पृथक् नहीं रह सकता। अतः मृत्तिका घट का समवायिकारण है। इसी प्रकार तन्तु पट का समवायिकारण है।

किसी कार्य के मूलभूत उपादान (Materials) उसके समवायिकारण होते हैं। इन्हें उपादान कारण (Material cause) भी कहते हैं। अवयवी अपने अवयवों से पृथक् होकर नहीं रहता, वह उन्हीं में समवेत रहता है। अतः उपादान या अवयव ऐसे कारण हैं जो कार्य को उत्पन्न कर स्वयं अलग नहीं हो जाते, किन्तु उसे अपने ही में समवेत रखते हैं। अतएव ये समवायिकारण कहलाते हैं।

केवल उपादान ही समवायिकारण नहीं होते। किसी द्रव्य में जो कर्म उत्पन्न होता है वह अपने आधारभूत द्रव्य में ही समवेत रहता है। यहाँ द्रव्य कर्म का उपादान या अवयव नहीं होते हुए भी उसका समवायिकारण है। इसी प्रकार पट अपने रूप का समवायिकारण है।

(२) असमवायिकारण (*Non-intimate cause*)—

"*कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन् अर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्।*"

—त० सं०।

जिस कारण में कार्य समवेत नहीं रहता, वह '*असमवायिकारण*' कहलाता है। यथा तन्तुओं का संयोग पट का असमवायिकारण है। तन्तुओं का रूप पट के रूप का असमवायिकारण है।

पूर्वोक्त उदाहरण में संयोग तन्तुओं में समवेत है। अतः संयोग के समवायिकारण हैं तन्तु। और पट के भी समवायिकारण तन्तु ही हैं। अत. संयोग (कारण) और पट (कार्य) एक ही अधिकरण (तन्तु) में समवेत हैं। यहाँ कारण-कार्य में आधाराधेय सम्बन्ध नहीं, किन्तु समानाधिकरण्य (Co-existence) है।

अब दूसरे उदाहरण को लीजिये। पटरूप का समवायिकारण है पट। और पट के समवायिकारण हैं तन्तु। और ये ही तन्तु स्वगतरूप के भी समवायिकारण हैं। यहाँ पटरूप के असमवायिकारण (तन्तुरूप) और समवायिकारण (पट) का अधिकरण एक ही (तन्तु) है।

प्रथम उदाहरण में असमवायिकारण का कार्य के साथ समानाधिकरण्य है। *द्वितीय*

(२) इसी तरह दण्ड के रूपादि गुण भी घटोत्पत्ति के सहायक नहीं होते। वे भी अन्यथासिद्ध हैं।

(३) घटोत्पत्ति कार्य का आकाश भी नियत पूर्ववर्त्ती होता है। किन्तु आकाश को घट का कारण नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश, विभु और नित्य होने से सभी कार्यों के समय सर्वत्र मौजूद रहता है। पर इसका खास कार्य केवल एकमात्र होता है—शब्द। उसी तक इसकी कारणशक्ति सीमित रहती है।

(४) कुम्हार का पिता भी घट का कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह कार्यान्तर (कुम्हार) का उत्पादक है, घटकार्य का नहीं।

(५) जिस मृत्तिका से घट बनता है वह गधा आदि पशुओं पर लादकर लायी जाती है। किन्तु इस कारण गधा वगैरह घट का कारण नहीं कहा जा सकता।

अतः कारण की परिभाषा में एक और विशेषण जोड़ना पड़ता है। *कारण* वह है जो नियतरूप से पूर्ववर्त्ती हो तथा अन्यथासिद्ध नहीं हो। इसलिये कारण की पूर्ण *परिभाषा* यह होगी—

"*अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ति कारणम्*।"

—तर्कभाषा।

कारणत्व के लिये तीनों वस्तुओं की अपेक्षा है—

(१) *पूर्ववर्तित्व* (२) *नियतत्व* और (३) *अनन्यथासिद्धत्व*।

अतः विश्वनाथ पंचानन कहते हैं—

"*अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।*
कारणत्वं भवेत् (तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्)।"

—भाषापरिच्छेद।

तीन प्रकार के कारण—

कारण तीन प्रकार का माना गया है—(१) *समवायिकारण*, (२) *असमवायिकारण* और (३) *निमित्तकारण*। इनमें प्रत्येक का परिचय दिया जाता है।

(१) *समवायिकारण* (*Intimate cause*)—

"*स्वसमवेतकार्योत्पादकं समवायिकारणम्*।"

—त० दी०

जैसे, कुम्हार, चाक, डंडा वगैरह घट के निमित्तकारण हैं। यहाँ कुम्हार प्रेरक-कर्ता (Moving agent) होने के कारण मुख्य है। चाक, डंडा आदि सहायक कारण होने से गौण हैं। ये '*सहकारी कारण*' कहलाते हैं।

करण—

इसी प्रसङ्ग में करणकारण (Instrumental cause) का अर्थ समझ लेना अच्छा होगा। प्राचीन नैयायिकों का मत है—

"*व्यापारवत् असाधारणकारणं करणम्।*"

जिस विशेष कारण से फलोत्पादक व्यापार की सृष्टि हो उसे करण समझना चाहिये। नैयायिकों के अनुसार ईश्वर, दिक्, काल प्रभृति ऐसे हैं जिन्हें संसार के यावतीय कार्यों का कारण कहा जा सकता है। ये समस्त कार्यों के *साधारण कारण* (Common cause) हैं। अतः कार्य-विशेष का कारणत्व निर्धारित करते समय हम इन्हें नहीं गिनते। केवल विशेष (असाधारण) कारण ही परिगणित किये जाते हैं। अतः उपर्युक्त परिभाषा में 'असाधारण' शब्द आया है।

व्यापार शब्द का अर्थ है वह क्रिया जो करण के द्वारा उत्पन्न हो और जिससे फल की प्राप्ति हो।

"*तज्जन्यः तज्जन्यजनकश्च व्यापारः।*"

यथा घट-निर्माण में *करण* (Instrument) है कुम्हार का दण्ड, और व्यापार है चक्रभ्रमण। प्रत्यक्ष ज्ञान में करण है नेत्रेन्द्रिय और व्यापार है अर्थ-सन्निकर्ष (Contact with the object)।

किन्तु नवीन नैयायिक करण और फल के बीच कोई व्यवधान (व्यापार) नहीं मानते। वैयाकरणों का मत है कि फलसम्पादन के लिये जो सबसे चरम साधन होता है वही करण कहलाता है।

"*साधकतमं करणम्।*"

नव्यन्याय भी इसी मत का समर्थन करता है।

"*फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्।*"

मान लीजिये लकड़िहारा पेड़ काट रहा है। यहाँ वृक्षच्छेदन का करण-कारण क्या है? लकड़िहारा? उसका हाथ? अथवा उसके हाथ की कुल्हाड़ी? इन तीनों में कोई भी

उदाहरण में असमवायिकारण का समवायिकारण के साथ समानाधिकरण्य है। अतः अन्नम् भट्ट कहते हैं—

"कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन् अर्थे समवेतं सत्कारणमसमवायिकारणम्।"

—त० सं०

अर्थात् जो कार्य के साथ वा कारण (समवायिकारण) के साथ एक ही विषय में समवेत हो, उसको असमवायिकारण समझना चाहिये। पहली अवस्था में असमवायिकारण और समवायिकारण के बीच जो प्रत्यासत्ति (Proximity) रहती है उसे *'कार्यैकार्थसमवाय लक्षणा'*' कहते हैं। दूसरी अवस्था में इन दोनों के बीच जो प्रत्यासत्ति रहती है उसे *"कारणैकार्थसमवाय लक्षणा"* कहते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः दिखलाये जा चुके हैं।

समवायिकारण और असमवायिकारण में निम्नलिखित भेद हैं—

(क) समवायिकारण कार्य को अपने ही में समवेत रखता है। असमवायिकारण कार्य को अपने में समवेत नहीं रख सकता। वह स्वयं समवायिकारण का समवेत अथवा प्रत्यासन्न रहता है। उसकी कारणत्वशक्ति निर्धारित रहती है।

शिवादित्य यह भेद इस प्रकार बतलाते हैं—

"स्वसमवेतकार्योत्पादकत्वं समवायिकारणत्वम्।"
"समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यम् असमवायिकारणत्वम्।"

—सप्तपदार्थी।

(ख) समवायिकारण द्रव्य ही हो सकता है। गुण और कर्म समवायिकारण नहीं हो सकते। क्योंकि गुणकर्म किसी कार्य के *आधार* (Substratum) नहीं हो सकते। इसके विपरीत असमवायिकारण सदा गुण या कर्म ही हो सकता है। द्रव्य कभी असमवायिकारण नहीं हो सकता।

"समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्य समवायिहेतुत्वम्।"

—भाषापरिच्छेद।

(३) निमित्तकारण (Efficient cause)—

उपर्युक्त दोनों कारणों से भिन्न कारण 'निमित्तकारण' कहलाता है।

"तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्।"

—त० सं०

जैसे, कुम्हार, चाक, डंडा वगैरह घट के निमित्तकारण हैं। यहाँ कुम्हार प्रेरक-कर्त्ता (Moving agent) होने के कारण मुख्य है। चाक, डंडा आदि सहायक कारण होने से गौण हैं। ये *'सहकारी कारण'* कहलाते हैं।

करण—

इसी प्रसङ्ग में करणकारण (Instrumental cause) का अर्थ समझ लेना अच्छा होगा। प्राचीन नैयायिकों का मत है—

"व्यापारवत् असाधारणकारणं करणम्।"

जिस विशेष कारण से फलोत्पादक व्यापार की सृष्टि हो उसे *करण* समझना चाहिये। नैयायिकों के अनुसार ईश्वर, दिक्, काल प्रभृति ऐसे हैं जिन्हें संसार के यावतीय कार्यों का कारण कहा जा सकता है। ये समस्त कार्यों के *साधारण कारण* (Common cause) हैं। अतः कार्य-विशेष का कारणत्व निर्धारित करते समय हम इन्हें नहीं गिनते। केवल विशेष (असाधारण) कारण ही परिगणित किये जाते हैं। अतः उपर्युक्त परिभाषा में 'असाधारण' शब्द आया है।

व्यापार शब्द का अर्थ है वह क्रिया जो करण के द्वारा उत्पन्न हो और जिससे फल की प्राप्ति हो।

"तज्जन्यः तज्जन्यजनकश्च व्यापारः।"

यथा घट-निर्माण में करण (Instrument) है कुम्हार का दण्ड, और व्यापार है चक्रभ्रमण। प्रत्यक्ष ज्ञान में करण है नेत्रेन्द्रिय और व्यापार है अर्थ-सन्निकर्ष (Contact with the object)।

किन्तु नवीन नैयायिक करण और फल के बीच कोई व्यवधान (व्यापार) नहीं मानते। वैयाकरणों का मत है कि फलसम्पादन के लिये जो सबसे चरम साधन होता है वही करण कहलाता है।

"साधकतमं करणम्।"

नव्यन्याय भी इसी मत का समर्थन करता है।

"फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्।"

मान लीजिये लकड़िहारा पेड़ काट रहा है। यहाँ वृक्षच्छेदन का करण कारण क्या है? लकड़िहारा? उसका हाथ? अथवा उसके हाथ की कुल्हाड़ी? इन तीनों में कोई भी

करण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन सब के रहते हुए भी फलोत्पत्ति नहीं हो सकती जबतक कुल्हाड़ी का वृक्ष में अभिघात नहीं हो। और परशु-वृक्ष-संयोग होते ही छेदन कार्य हो जाता है। अतः इसे ही करण कहेंगे। क्योंकि इससे अविलम्ब कार्योत्पत्ति हो जाती है। अतः केशवमिश्र कहते हैं—

येना ऽविलम्बेन कार्योत्पत्तिः तत् प्रकृष्टं कारणं करणम्।

कारण सामग्री—सभी कारणों का समुदाय मिलकर 'कारण सामग्री' कहलाता है। यदि इनमें कोई नहीं रहे तो कार्योत्पत्ति में बाधा पहुँचती है। जैसे काटनेवाला है लेकिन कुल्हाड़ी ही नहीं, अथवा कुल्हाड़ी है, लेकिन पेड़ ही नहीं, ऐसी हालत में कार्य नहीं हो सकता। कार्य के लिये समस्त 'कारणसामग्री' आवश्यक है।

कारण-कार्य में अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् जहाँ कारण रहेगा, वहाँ कार्य अवश्य होगा। जहाँ कारण नहीं रहेगा, वहाँ कार्य भी नहीं होगा।

"कारणभावात् कार्यभावः।"
"कारणाभावात् कार्याभावः।"

एक कार्यविशेष एक ही कारणसमुदाय से उत्पन्न हो सकता है या अनेक समुदायों से? इस विषय को लेकर मतभेद है। वाचस्पतिमिश्र और जयन्ताचार्य का मत है कि कार्य-विशेष सर्वदा उसी कारण-विशेष के द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु कुछ नवीन नैयायिक इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि एक ही कार्य भिन्न भिन्न कारण-समुदायों के द्वारा-उनमें एक ही प्रकार की अतिरिक्त शक्ति (Common efficiency) रहने के कारण-उत्पन्न हो सकता है। अतः कार्य को देखकर समुदाय-विशेष का निर्धारण नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि संभाव्य कारणसमुदायों में से ही किसी एक के द्वारा कार्य की उत्पत्ति हुई है।

असत्कार्यवाद—

न्याय वैशेषिक का सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्य सादि और सान्त है। कार्य समय-विशेष में उत्पन्न होता है। उसके पहले वह 'असत्' था, अर्थात् उसका अस्तित्व नहीं था। इस सिद्धान्त का नाम 'असत्कार्यवाद' है। घट उत्पन्न होने के पहले असत् (Non-existent) था। अर्थात् उसका अभाव (प्रागभाव) था। यह प्रागभाव घट के उत्पन्न होने से दूर हो जाता है। अतः कार्य की परिभाषा है—

"प्रागभावप्रतियोगित्व कार्यत्वम्।"

"प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्।"

इससे सिद्ध होता है कि कार्य की उत्पत्ति होना उसकी आदि सृष्टि है, प्रथमारम्भ है। अतएव इस सिद्धान्त को 'आरम्भवाद' भी कहते हैं।

इस विषय को लेकर सांख्य और न्याय वैशेषिक में खूब ही वाद-विवाद चला आता है। सांख्य का मत है कि असत् वस्तु का भाव और सत् वस्तु का अभाव कभी नहीं हो सकता।

"नाऽसतोविद्यते भावः नाऽभावो विद्यते सतः।"

—गीता

इसलिये जब घट असत् था तब वह आया कहाँ से? शून्य से तो किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती (Ex nihilo nihil fit)। अतः घट की सत्ता पहले ही से थी, ऐसा मानना पड़ेगा। कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, केवल *अभिव्यक्ति* मात्र होती है। घट अपने उपादान कारण (मृत्तिका) में पहले ही से था। किन्तु वह निहित रूप में था। निमित्त कारण (कुम्हार) के द्वारा उसका रूप प्रकट हो जाता है। इस मत का नाम 'सत्कार्यवाद' है। वेदान्त भी इसी मत का समर्थन करता है।

न्याय-वैशेषिक में सत्कार्यवाद का जोरों के साथ खण्डन किया गया है। सांख्य वाले कहते हैं कि घट यथार्थतः मृत्तिका से भिन्न और कोई वस्तु नहीं। इसपर कणाद पूछते हैं कि यदि घट और मृत्तिका में कोई भेद ही नहीं है तो फिर आप उन्हें अलग-अलग नामों से क्यों पुकारते हैं? और यदि मृत्तिका में पहले ही से घट विद्यमान है तो फिर कुम्हार की क्या आवश्यकता है? यथार्थतः मृत्तिका और घट एक वस्तु नहीं हैं। इनसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का बोध होता है। घट और मृत्तिका का न एक स्वरूप है, न एक कार्य है। घट का विशेष कार्य है *आनयन*, जो केवल मृत्तिका से सम्पादित नहीं हो सकता। घट में एकत्व है, किन्तु उसके अवयवों में (मृत्तिका में) बहुत्व है। उनकी उत्पत्ति के समय भी भिन्न-भिन्न हैं। अतएव कार्य-कारण में अभेद नहीं माना जा सकता। कार्यस्वरूप अवयवी कारणस्वरूप अवयवों से भिन्न होता है।*

---

* सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का विवाद सांख्यदर्शन में देखिये।

सृष्टि और प्रलय

सृष्टि और प्रलय--

न्याय-वैशेषिक के मतानुसार परमाणुओं के संयोग से सृष्टि होती है यह संयोग किस प्रकार होता है, इसको प्रशस्तपादाचार्य यों समझाते हैं—

जब ब्रह्मा के काल से सौ वर्ष बीत जाते हैं, तब परमेश्वर की इच्छा होती है कि संसार-चक्र में जुते हुए सभी प्राणी कुछ काल तक विश्राम करें। बस, वह ब्रह्मा को सृष्टि कार्य से मुक्त कर देते हैं और संसार को अपनेमें खींचकर मिला लेते हैं। उस समय शरीर, इन्द्रिय और महाभूत के प्रवर्त्तक सभी आत्माओं के अदृष्ट रुक जाते हैं। अर्थात् अदृष्ट की वृत्तियों का विरोध हो जाता है आत्मा शरीर से पृथक् हो जाते हैं। शरीर और इन्द्रियों के परमाणु बिखरकर अलग-अलग हो जाते हैं। जितने कार्यद्रव्य हैं वे सब विनष्ट हो जाते हैं। पहले पृथ्वी, तब जल, उसके बाद अग्नि और अन्त में वायु का विनाश होता है। इस तरह संसार की कोई वस्तु कायम नहीं रहती। इस अवस्था का नाम संहार या प्रलय (Dissolution) है। संसार के झंझटों से थके-माँदे जीव इस प्रलय रात्रि में सोकर अपनेको भूल जाते हैं।

किन्तु, इस प्रलय-काल में भी मूल सत्ता का संहार नहीं हो सकता। मूलभूत परमाणु ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। परमाणु अजर अमर हैं। उनका विनाश नहीं हो सकता *।

प्रलय-काल में आत्मा भी नष्ट नहीं होते। वे अपने-अपने धर्माधर्म के संस्कार से युक्त बने रहते हैं। किन्तु अदृष्ट की गति कुण्ठित हो जाने के कारण वे स्तब्ध और निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। परमाणु और आत्मा के अतिरिक्त कुछ और भी सत्ताएँ ऐसी हैं जिनका कभी विनाश नहीं हो सकता। वे हैं काल, दिक् और आकाश। ये प्रलय-काल में भी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

---

* "न प्रलयोऽणुसद्भावात्"

न्या० (४।२।१६)

प्रलय निशा में विश्राम कर चुकने के उपरान्त परमेश्वर को फिर से सृष्टि रचना की इच्छा होती है। ऐसी इच्छा उत्पन्न होते ही सभी सोई हुई शक्तियाँ फिर से जाग उठती हैं और सृष्टि-कार्य प्रारंभ हो जाता है। सर्वप्रथम वायु के परमाणुओं में स्पन्दन होता है और वे परस्पर संयुक्त होने लग जाते हैं। क्रमशः द्व्यणुक त्र्यणुक बनते-बनते महावायु के झकोरे आकाश में उठने लगते हैं। तदनन्तर जल के परमाणुओं में कर्म का संचार होता है और महासमुद्र बन जाता है। फिर उस समुद्र में पृथ्वी के परमाणु इकट्ठे होने लगते हैं, और धीरे धीरे धरातल की उत्पत्ति हो जाती है। अन्त में तेज के परमाणु आपस में मिलने लगते हैं और देदीप्यमान तेजःपुञ्ज प्रकट होता है।

इस प्रकार चारों महाभूत फिर से आविर्भूत होते हैं। तब परमेश्वर के ध्यान मात्र से तेज और पृथ्वी के परमाणु मिलकर एक महान् अण्ड के रूप में परिणत होते हैं। यह अण्ड हिरण्यगर्भ कहलाता है। इस हिरण्यगर्भ से चतुर्मुख* ब्रह्मा निकलते हैं जो सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होते हैं। वे सब लोकों के स्रष्टा होने के कारण पितामह कहलाते हैं।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा में असीम ज्ञान का भंडार रहता है। अतएव वे सभी प्राणियों का धर्माधर्म जानते हैं और वे अतुलित शक्तिशाली होते हैं। अतः वे सभी प्राणियों को कर्मानुसार फल प्रदान कर सकते हैं। उनमें किसी के प्रति आसक्ति नहीं रहती। अर्थात् वे वीतराग होते हैं। अतएव वे कभी किसी का पक्षपात नहीं करते। इन गुणों से युक्त ब्रह्मा अपने मन से प्रजापतियों को उत्पन्न करते हैं। फिर क्रमशः मनु, देवता, ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और नाना कोटियों के जीव उत्पन्न होते हैं। सभी प्राणियों को अपने अपने पूर्वकर्मानुसार योनि मिलती है। और कर्म विपाक के अनुरूप ही आयु, ज्ञान और भोग के साधन भी मिलते हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रवाह फिर से चालू हो जाता है।

---

* एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्यः पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते। तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते। स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मा अतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्राणिनां कर्मविपाकं विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णानन्यानि चोच्चावचानि भूतानि च सृष्ट्वाऽऽशयानुरूपैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति।

—पदार्थधर्मसंग्रह

पुनर्जन्म और मोक्ष

[पुनर्जन्म के सम्बन्ध में युक्तियाँ—जन्म का कारण—मोक्ष का अर्थ—मोक्ष का साधन]

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में युक्तियाँ—पुनर्जन्म का सिद्धान्त आस्तिक दर्शनों में निर्विवाद-सा मान लिया गया है। बल्कि यों कहिये कि पुनर्जन्म मानने के कारण ही न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन आस्तिक कहलाते हैं। सर्वतन्त्र सिद्धान्त होने के कारण पुनर्जन्म के विषय में विशेष खण्डन मण्डन नहीं पाया जाता। फिर भी अपुनर्जन्मवादी नास्तिक दर्शनों का उत्तर देने के लिये गौतमादिक महर्षियों ने युक्ति द्वारा पुनर्जन्म सिद्ध करने की चेष्टा की है। न्यायसूत्र के तृतीय अध्याय में पुनर्जन्म के विषय में शंका-समाधान किया गया है। दर्शनकार पूर्वजन्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः।

—न्या. सू. ३।१।१८

यहाँ प्रश्न यह उठाया गया है कि नवजात शिशुओं के मुँह पर जो आनन्द, भय और शोक के लक्षण देखने में आते हैं, उसका कारण क्या है? इस सूत्र में आये हुए शब्दों की परिभाषा करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

अभिप्रेतविषयप्रार्थनाप्राप्तौ सुखानुभवः हर्षः। अनिष्टविषयसाधनोपनिपाते तज्जिहासो-र्हानाशक्यता भयम्। इष्टविषयवियोगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना शोकः। तदनुभवः सम्प्रतिपत्तिः। प्रयत्नबुद्धिनिरोधे तदनुसन्धानविषयः स्मृतिः। अनुबन्धो भावनास्मृतिहेतुः संस्कारः।

—न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

अर्थात्—इष्ट विषय की पूर्ति हो जाने पर '*हर्ष*' होता है। अनिष्ट विषय के उपस्थित हो जाने पर उसे दूर करने की इच्छा रहते हुए भी दूर नहीं कर सकने से '*भय*' होता है। इष्ट विषय का वियोग होने से *शोक* होता है। इन सबों के प्रत्यक्ष अनुभवों को '*सम्प्रतिपत्ति*' कहते हैं, और अतीत अनुभव के अनुसन्धान को '*स्मृति*'। स्मृति के कारणस्वरूप संस्कार को '*अनुबन्ध*' कहते हैं।

अब सूत्र का तात्पर्य समझिये। हर्ष, भय और शोक किसी न-किसी कारण से उत्पन्न होते हैं। फिर सद्य जात शिशु के मुख पर जो हर्ष, भय या शोकसूचक विकार दृष्टिगोचर होते हैं, उनका कारण क्या माना जाय ?

यहाँ एक ही कारण की कल्पना की जा सकती है। वह है *पूर्वजन्म का अभ्यास*। पूर्व स्मृति के संस्कारवश ही शिशु में हर्ष, भय और शोक के चिह्न उदित होते हैं। यदि शिशु को पूर्वजन्म का अनुभव नहीं रहता तो इस जन्म का अनुभव प्राप्त करने के पूर्व ही, आरम्भ ही से, उसमें हास और रोदन का सञ्चार कैसे हो पाता ? इससे पूर्वजन्म के संस्कार का अस्तित्व सूचित होता है।

यहाँ एक शंका की जा सकती है। शिशु का हँसना रोना उसी प्रकार स्वाभाविक क्यों न मान लिया जाय जिस प्रकार कमल का खिलना और बंद होना ? जिस तरह कमल आदि फूल आप ही आप स्फुटित और संकुचित होते हैं, उसी तरह बच्चे का वदन भी आप ही आप विकसित और म्लान हो सकता है। यही आक्षेप निम्नलिखित सूत्र में व्यक्त किया गया है।

पद्मादिषु प्रबोधनसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः।

—न्या० सू० ३।१।२०

इस आक्षेप का निराकरण अगले सूत्र में किया गया है।

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम्।

—न्या० सू० ३।१।२१

अर्थात् कमलवाले दृष्टान्त से आकस्मिकवाद की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि पांचभौतिक वस्तुओं में जो भिन्न भिन्न विकार लक्षित होते हैं, वे गर्मी, जाड़ा और वर्षा के कारण। बिना विशेष कारण के उनकी उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार शिशु की मुखाकृति में जो भिन्न-भिन्न विकार परिलक्षित होते हैं, उनके लिये भी कुछ-न-कुछ विशेष कारण मानना ही पड़ेगा। यह विशेष कारण है पूर्वजन्म का अभ्यास। इसी से सद्य जात शिशु की दूध पीने की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्।

—न्या० सू० ३।१।२२

जातमात्र अबोध शिशु को स्तन चूसना कौन सिखलाता है ? पूर्वजन्म का अभ्यास। उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेणाहाराभ्यासम्।

तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं यत्रानेनाहारोऽभ्यस्तः इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात्प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाहारमभ्यस्तमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति।

—वा० भा०।

अर्थात् जन्म लेने के साथ ही शिशु में स्तनपान करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। यह भोजनाभिलाषा बिना पूर्व अभ्यास के नहीं हो सकती इससे अनुमान होता है कि वही आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में आकर पूर्व अभ्यास से प्रेरित होकर क्षुधित होने पर दुग्धपान में प्रवृत्त होता है।

यहाँ **आकस्मिकवादी नास्तिक** की तरफ से फिर एक आक्षेप हो सकता है। उसकी उद्भावना अगले सूत्र में की गई है।

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम्।

—न्या० सू० ३।१।२३

अर्थात् जिस प्रकार लोहा बिना अभ्यास के ही (स्वभावतः) चुम्बक की ओर खिंच जाता है, उसी प्रकार बालक भी स्वभावतः (बिना पूर्व अभ्यास के) स्तन की ओर खिंच जाता है।

इस आक्षेप का खण्डन **गौतम** ने इस सूत्र के द्वारा किया है—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात्।

—न्याय० सू० ३।१।२४

अर्थात् यह आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि लोहा चुम्बक से ही आकर्षित होता है, अन्य वस्तु से नहीं। शिशु स्तन्यपान की ओर ही लपकता है, अन्य क्रिया की तरफ नहीं। इससे मालूम होता है कि कारण-कार्य का सम्बन्ध नियमित है, अनिश्चित नहीं। अर्थात् स्तनन्धय शिशु का स्तनपान आकस्मिक नहीं, किन्तु कारणप्रसूत है। यह कारण क्या हो सकता है? पूर्वजन्मार्जित संस्कार ही इसका युक्तिसिद्ध कारण माना जा सकता है।

इसी पक्ष को पुष्ट करते हुए **न्यायकार** अग्रिम सूत्र कहते हैं—

वीतरागजन्मादर्शनात्।

—न्या० सू० ३।१।२५

अर्थात् वीतराग पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। इससे सूचित होता है कि रागयुक्त पुरुष का पुनर्जन्म होता है। पूर्वानुभूत विषयों का चिन्तन ही राग का कारण है। यह आत्मा पूर्वजन्म में भोगे विषयों का स्मरण कर उन विषयों में आसक्त होता है और पूर्ववत् आचरण करता है।

तब यह शंका उठती है कि पूर्वजन्म का सभी स्मरण क्यों नहीं रहता ? इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

यावतावयवस्थायां हि चेतनस्य प्रवृत्तिः क्षीरादौ पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धहेतुका प्रतीतेति बाल्यावस्थायामपि चेतनस्य तद्धेतुकैवभवितुमर्हति तेन हेतुना प्रवृत्तेः स्वाभाविकसम्बन्धावगमात् वह्निरेव धूमस्य। एवं व्यवस्थिते यत्र स्मृतेः कार्यं दृश्यते तन्मात्रविषयैरेव बालस्य स्मृतिरनुमीयते नान्यत्र। न च य एकस्य स्मरति तेनापरमपि स्मर्यमिति नियमहेतुरस्ति। अदृष्टपरिपाकोद्बोधितस्य संस्कारस्य तन्नियमेन विषयोपपत्तेः। अद्यत्वेऽपि चानुभूतेषु कस्यचिदेव स्मरति न सर्वस्येति।

—न्या० वा० ता० टी०

भावार्थ यह कि पूर्व अभ्यास से ही स्मृति-संस्कार बनता है। यह बात अनुभवसिद्ध है। शिशु में जो पूर्व संस्कारजनित प्रवृत्ति देखने में आती है उससे पूर्वजन्म का अनुमान होता है। तब उसे पूर्वजन्म की सभी बातों का स्मरण क्यों नहीं रहता ? इसलिये कि अदृष्ट का परिपाक जितना संस्कार जगाता है, उतनी ही स्मृति उद्‌बुद्ध हो सकती है। कोई ऐसा नियम नहीं है कि एक बात स्मृतिपटल पर अंकित हो जाय तो और-और सारी बातें भी उसी तरह अंकित हो जानी चाहिये। देहान्तर-प्राप्ति होने पर केवल प्रबलतम संस्कार ही सूक्ष्म रूप से पुनरुज्जीवित होता है।

सिद्धान्त यह निकला कि मृत्यु के अनन्तर प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) होता है और आत्मा नित्य है।

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः।

—न्या० सू० ४।१।१०

वात्स्यायन कहते हैं—

पूर्वशरीरं हित्वा शरीरान्तरोपादानं प्रेत्यभावः। यस्य तु सत्त्वोत्पादः सत्त्वनिरोधः प्रेत्यभावस्तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः।

अर्थात् पुनर्जन्म नहीं मानने से दो दोष उपस्थित होते हैं—

(१) कृतहान (किये हुए कर्म के फल का अभोग)
(२) अकृताभ्यगम (नहीं किये हुए कर्म का फलभोग)

आस्तिक दर्शनों का सिद्धान्त है कि जीवन के सुख दुःखरूपी फल कर्मानुसार होते हैं। किन्तु ऐसा देखने में आता है कि इस जीवन में किये हुए बहुत-से कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं मिलता। अब यदि जन्मान्तर नहीं माना जाय तो इन कर्मों का फल लुप्त हो जाता है।

इसी तरह देखने में आता है कि इस जीवन में बिना पुण्य किये ही कोई सुख भोग करता है अथवा बिना पाप किये ही कोई दुःख भोग करता है। यदि इस जन्म से पूर्व जन्मान्तर नहीं माना जाय तो फिर बिना कर्म के भोग मानना पड़ेगा।

वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

अकृतस्य कर्मणः फलोपभोगप्रसङ्गात् यदा खलु परमाणुगुणः एव नित्यः शरीराद्यारम्भकस्तदासौ नित्यत्वान्न केनचित् क्रियते तस्याश्चतस्यैव फलं पुरुषैरुपभुज्येत ततश्चायमाप्तिभानां विहितनिषिद्धप्रवृत्तिनिवृत्योऽनर्थकः शास्त्रप्रणयनं चानर्थकं भवेदिति।

—न्या० वा० ता० टी०

अर्थात् यदि परमाणुओं के संयोग से ही देहोत्पत्ति मानी जाय और पूर्वकृत कर्म का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि सुख दुःख का भोग यों ही होता है, और कर्म पर निर्भर नहीं करता। ऐसी अवस्था में जब कर्मफल कोई वस्तु ही नहीं, तब फिर शास्त्रोक्त विधि और निषेध का अर्थ ही क्या रह जायगा? जब पुरुष बिना सत्कर्म किये भी सुख भोग सकता है, तब वह आपातरमणीय वर्जित कर्म को परित्याग कर कष्टसाध्य-विहित कर्म की ओर क्यों प्रवृत्त होगा? यदि कर्म को निष्फल और जीवन के सुख दुःख को आकस्मिक माना जाय तो सारे शास्त्र निरर्थक हो जायँगे। अतएव *कृतहानि* और *अकृताभ्यागम* दोष का परिहार करने के लिये कर्मानुसार पुनर्जन्म मानना आवश्यक है।

जन्म का कारण—जन्म क्यों होता है?

इस प्रश्न का उत्तर गौतम के निम्नलिखित सूत्र में मिलता है—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः

—न्या० सू० ३।२।६३

अर्थात् पूर्वशरीर में किये कर्मों के फलानुबन्ध से देह की उत्पत्ति होती है। धर्म और अधर्मरूप अदृष्ट से प्रेरित पंचभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्र भूतों से नहीं।

यहाँ भौतिकवादी नास्तिक कह सकते हैं कि केवल क्षिति, जल आदि पंचभूतों के संयोग से शरीर बन जाता है। फिर उसके निमित्त पूर्वकर्म मानने की क्या आवश्यकता? जिस तरह घट आदि भौतिक परमाणुओं के संयोग से बन जाते हैं, उसी तरह शरीर का निर्माण भी भौतिक उपादानों से हो जाता है। इस पक्ष का स्थापन निम्नलिखित सूत्र में किया गया है।

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम्।

—न्या० सू० ३।२

इसका भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वादुपादीयते।

—वा० भा०

अर्थात् बालू से कंकड़, पत्थर आदि की उत्पत्ति कर्मसापेक्ष नहीं। ये स्वतः भौतिक परमाणुओं के संयोग से बन जाते हैं। इसी प्रकार गर्भस्थ शरीर भी (शुक्रशोणित संयोग से) बन जाते हैं। फिर पूर्वकर्म को शरीर का हेतु मानने की क्या आवश्यकता ?

इसका उत्तर अगले सूत्रों में दिया गया है। एक उत्तर तो यह है कि—

न। साध्यसमत्वात्

—न्या. सू. ३।२।६४

अर्थात् "कंकड़-पत्थर आदि की उत्पत्ति कर्मसापेक्ष नहीं है"—यह दृष्टान्त भी तो साध्य ही है (सिद्ध नहीं है)। फिर यह साधक कैसे हो सकता है ?

दूसरा उत्तर है—

न। उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः

—न्या० सू० ३।२।६६

अर्थात् कंकड़-पत्थरवाला दृष्टान्त विषम है। क्योंकि कंकड़ वगैरह बिना बीज के उत्पन्न होते हैं, पर देह की उत्पत्ति बीज से होती है।

वात्स्यायन कहते हैं—

विषमश्चायमुपन्यासः। कस्मात् निर्बीजा इमा मूर्तयः उत्पद्यन्ते बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः। सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाशये शरीरोत्पत्ति भूतेभ्यः प्रयोजयन्ति।

अर्थात् सबीज शरीर का दृष्टान्त निर्बीज मिट्टी-पत्थर से नहीं दिया जा सकता। शरीर की उत्पत्ति के लिये जीव का गर्भवास आवश्यक है। अपने तथा माता-पिता के कर्मानुरूप जीव की उत्पत्ति माता के गर्भ में होती है। ये ही कर्म भौतिक तत्त्वों से देह की रचना कराते हैं।

देह की रचना किस प्रकार होती है इस सम्बन्ध में गौतम का अग्रिम सूत्र है—

तथाऽऽहारस्य

—न्या० सू० ३।२।६७

इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

भुक्तपीतमाहारस्य तस्य पक्तिनिर्वृत्तरसद्रव्यं मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकं मात्रया चोपचयो बीजे यावद्व्यूहसमर्थः सञ्चय इति। सञ्चितश्चार्बुदमांसपेशीकललकण्डरारिशःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूहते व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति। न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पते। एतस्मात् कारणात् कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायते।

अर्थात् खाया पिया आहार भी शरीर की उत्पत्ति मे कारण है। आहार पचने पर माता के शरीर में रस-रूप पदार्थ बढ़ता है। उसी के अनुसार गर्भ में का बीज बढ़कर मांसग्रन्थि आदि अनेक रूप धारण करता है। गर्भ की नाड़ी से उतरकर रसद्रव्य की जो वृद्धि होती है वह गर्भस्थ शरीर की पुष्टि कर उसे प्रसव योग्य बना देता है। पात्र में रखे हुए भोजन द्रव्य में यह शक्ति नहीं होती। इससे जान पड़ता है कि केवल आमाशयस्थ भोजन ही गर्भ शरीर की उत्पत्ति का कारण नही है। अत, कर्म की सहायता भी लेनी पड़ती है।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि जब स्त्री-पुरुष का शुक्र शोणित संयोग ही गर्भाधान का कारण होता है तब फिर पूर्वकर्म को जन्म का निमित्त क्यों माना जाय? इसका उत्तर गौतम निम्नलिखित सूत्र में देते हैं—

प्राप्तौ चानियमात्

—न्या० सू० ३।२।६८

न सर्वदम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते तत्रासति कर्मणि न भवति सति च भवति इति अनुपपन्नो नियमाभाव इति।

—वा० भा०

अर्थात् स्त्री-पुरुष के सभी संयोग गर्भ स्थापित नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि शुक्र शोणितसंयोग गर्भाधान का एकमात्र निरपेक्ष कारण नहीं है। किसी और वस्तु की अपेक्षा भी उसमें रहती है। वह है प्रारब्धकर्म। प्रारब्धकर्म के बिना बीज-रक्त-संयोग गर्भधारण करने में समर्थ नहीं होता।

अत, भौतिक तत्त्वों को शरीरोत्पत्ति का निरपेक्ष कारण नहीं मानकर कर्मसापेक्ष कारण

मानना चाहिये। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही शरीर की उत्पत्ति और उसमें आत्माविशेष का संयोग होता है।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म।
—न्या० सू० ३।२।६६

यही कारण है कि कोई उच्च कुल में जन्म लेता है, कोई नीच कुल में; कोई पूर्णाङ्ग होता है, कोई विकलाङ्ग; कोई रोगी होता है, कोई नीरोग। कोई तीव्र, कोई मन्द। ये सब भेद आत्माओं के भिन्न-भिन्न प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। प्रारब्धकर्म का फल नहीं मानने से सभी आत्माओं को तुल्य मानना पड़ेगा और फिर पंचभूतों का कोई नियामक नहीं रहने के कारण सभी शरीर एक से बनेंगे, ऐसा मानना पड़ेगा। किन्तु, यह बात प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। भिन्न भिन्न आकार-प्रकार के शरीर संस्कार लेकर जीव जन्म ग्रहण करते हैं। इससे कर्म को निमित्तकारण मानना पड़ता है। प्रारब्धकर्म को नहीं मानने से जन्म-विषयक अनियम या अव्यवस्था का समाधान नहीं होता है।

अब गौतम कहते हैं—

एतेनानियमः प्रत्युक्तः
—न्या० सू० ३।२।७०

अर्थात् प्रारब्ध कर्म को निमित्तकारण मानने से ही जन्मविषयक अनियम का खण्डन होता है।

यदि शरीरोत्पत्ति में कर्म निमित्त नहीं माना जाय और केवल भौतिक तत्त्वों का संयोग ही एकमात्र कारण माना जाय तो फिर उस संयोग के नाश (अर्थात् मृत्यु) का क्या कारण है ? विना विशेष कारण माने शरीर की नित्यता और मरण की अनुपपत्ति (असिद्धि) का प्रसङ्ग आ जाता है।

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः
—न्या० सू० ३।२।७५

उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणम्। कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म। भूतमात्रस्तु कर्मनिरपेक्षात्तच्छरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयात् शरीरपातः ? प्रायणानुपपत्तेः खलु नित्यत्वप्रसङ्गः।

अर्थात् भोगद्वारा कर्माशय का क्षय हो जाने पर इस शरीर का अन्त हो जाता है। पुनः दूसरे कर्माशय का फल भोग करने के निमित्त दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है। यदि केवल पंचभूत ही जन्म के कारण होते तो फिर मृत्यु क्यों होती ? क्योंकि भूत नित्य हैं। फिर किसके क्षय से शरीर का अन्त होता ?

इन बातों से सूचित होता है कि शरीर की उत्पत्ति और नाश कर्माशय पर निर्भर है। प्रारब्धकर्म के अनुसार फलभोग करने के निमित्त जन्म होता है और कर्माशय का क्षय हो जाने पर शरीर से आत्मा का वियोग हो जाता है।

उत्पन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः

—न्या० सू० ३।२।७०

सिद्धान्त यह निकला कि बिना कर्मफल का सिद्धान्त माने जन्म-मरण की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती।

मोक्ष का अर्थ—मोक्ष की परिभाषा कणाद के निम्नलिखित सूत्र में पाई जाती है—

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः

—वै० सू० ५।२।१८

तदभावे का अर्थ है *तस्याऽदृष्टस्याभावे*। *संयोगाभावः* का अर्थ है *देहप्रवाहसम्बन्ध-विच्छेदः*। *अप्रादुर्भावः* का अर्थ है *दुःखस्यानुत्पत्तिः*।

अब पूरा अर्थ समझिये। अदृष्ट का अभाव हो जाने पर (अर्थात् कर्मचक्र की गति का अन्त हो जाने पर) आत्मा का शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जन्म-मरण-परम्परा का अवसान हो जाने पर सकल दुःखों से सर्वदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। यही *मोक्ष* अथवा मुक्ति है।

जबतक कर्म अवशेष रहता है तबतक उसका फल भोग करने के लिये जन्म धारण करना ही पड़ता है। जब संचित और *प्रारब्ध* कर्म का फल चुक जाता है और नये (*क्रियमाण*) कर्म की उत्पत्ति नहीं होती तब पुनर्जन्म नहीं होता।

वात्स्यायन कहते हैं—

सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतु कर्म कायवाङ्मनोभिर्न करोति। इत्युत्तरस्यानुपचयः पूर्वोपचितस्य विपाक प्रति संवेदन प्रक्षयः। एवं प्रसवहेतोरभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेः प्रतिसन्धिः। —वा० भा०।

अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह नष्ट हो जाने पर किसी वस्तु में राग या आसक्ति नहीं रहती। विषय-वैराग्य हो जाने पर किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् मनुष्य शरीर, मन या वचन से कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिसका फल भोग करने के हेतु उसे पुनः शरीर धारण करना पड़े। पूर्वकर्म का विपाक हो जाने से, और आगे का कर्म संचित नहीं होने से कर्माशय का क्षय हो जाता है, और तब देहान्तरप्राप्ति नहीं होती।

आगामी जन्म की उत्पत्ति रुक जाने से सकल सांसारिक दुःखों का स्रोत बंद हो जाता है। यही मोक्ष है।

आगामि शरीराद्यनुत्पादरूप दुःखप्रध्वंस एव मोक्षः।

मोक्ष के विषय में न्याय-वैशेषिक और मीमांसा में मतभेद है। मीमांसकों के मत में मोक्षावस्था में शाश्वत सुख विद्यमान रहता है।

नित्यनिरतिशय सुखाभिव्यक्तिः मोक्षः।

किन्तु, न्याय वैशेषिक मत में मोक्षावस्था सुखदुःख दोनों ही से परे है। सुख भी एक प्रकार का दुःख ही है। अतः, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होने से साथ-ही-साथ सुख की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् मोक्षावस्था में जीव को सुखदुःख किसी का अनुभव नहीं होता।

अतएव तर्कभाषा में मोक्ष की परिभाषा यों बताई गई है—

एकविंशति भेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्मोक्षः।

दुःख के इक्कीस भेद यों हैं—

शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखञ्च।

अर्थात् १ शरीर + ६ इन्द्रियाँ + ६ विषय + ६ बुद्धियाँ + १ सुख + १ दुःख = २१ दुःख।

इन सभी दुःखों के चरमध्वंस को ही 'मोक्ष' कहते हैं। मोक्षावस्था में दुःख वा सुख का लेशमात्र भी जीव को अनुभव नहीं होता। उपनिषद् में भी कुछ इसी आशय के वाक्य पाये जाते हैं।

न तत्र लेशतोऽपि दुःखं सुखं वा।

× × × ×

अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

—छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।१)

एवं प्रकार जहाँ मीमांसा का मोक्ष सुखात्मक (Positive Bliss) है, वहाँ न्याय-वैशेषिक का मोक्ष दुःखाभावात्मक (Negative, Absence of Pain) है।

न्याय वैशेषिक के इस अभावात्मक मोक्ष की बहुत ही कटु आलोचनाएँ हुई हैं। कुछ विरोधी यों आक्षेप करते हैं—

यदि सुखात्मानः पाषाणतुल्य जडास्तर्हि कथं तत्र दुःखनिवृत्तिव्यपदेशः ?

यदि मुक्त हो जाने पर जीवात्मा सुख-दुःख के संवेदन से विरहित—चैतन्य-शून्य—हो जाता है तो फिर उसमें और जड़ पाषाण में अन्तर ही क्या रहा ? और यदि उसे जड़ पाषाणवत् मानते हैं तो फिर दुःखनिवृत्ति से क्या फल निकला ?

इस आक्षेप का उत्तर न्याय-वैशेषिक की ओर से यों दिया जाता है—

नहि पाषाणो दुःखाद्विवृत्त इति केनापि प्रेक्षावता व्यपदिश्यते। दुःखसंभव एव हि दुःखनिवृत्ति निर्दिष्टुमर्हति।

अर्थात् जिसे बुद्धि है वह पाषाण को मुक्त नहीं कहता। दुःखनिवृत्ति का प्रश्न तो वहाँ उठता है जहाँ दुःख की उत्पत्ति संभव हो। पत्थर में तो दुःख की संभावना ही नहीं है, फिर निवृत्ति कैसी ?

अतः मुक्त आत्मा को पत्थर से उपमा देना उपयुक्त नहीं।

न्याय-वैशेषिक मतानुसार चैतन्य आत्मा का नैसर्गिक नहीं, किन्तु औपाधिक गुण है। अर्थात् आत्मा का शरीर के साथ संयोग होने पर ही उसमें चैतन्य गुण का प्रादुर्भाव होता है। शरीररहित आत्मा में चैतन्य का लोप हो जाता है। संज्ञाशून्य होने से वह शान्त और निर्विकार हो जाता है। जैसे, सुषुप्तावस्था में किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार मुक्तावस्था में भी किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता।

तब क्या इसी फल की प्राप्ति के लिये—संज्ञाशून्य (Unconscious) बन जाने के लिये इतना कठिन साधन किया जाय ? क्या यही जीवन का चरम उद्देश्य (Summum Bonum) है ? क्या इसी में परमपुरुषार्थ है कि ज्ञान और आनन्द के स्रोत को बंद कर सर्वदा के लिये प्रस्तरवत् जड़ बनकर रहा जाय ?

कुछ आलोचक तो बिगड़ कर यहाँ तक कहते हैं कि—

मुक्तये सर्वजीवानां यः शिलात्वं प्रयच्छति।
स एको गौतमः प्रोक्तः उलूकश्च तथाऽपरः।

\+ + + + +

वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन।

\+ + + + +

अर्थात् जो सभी जीवों की मुक्ति अन्ततः पत्थर के समान जड़ बन जाने में ही मानते हैं उनका नाम 'गौतम' (बैल) और 'उलूक' (उल्लू) ठीक ही रखा गया है। वैशेषिक का मोक्ष पाने की अपेक्षा तो वन में गीदड़ बनकर रहना अच्छा है।

इसका समाधान न्यायवैशेषिक की ओर से यों किया जाता है—

विशेषगुणोच्छेदेहि सति आत्मनः स्वरूपेणावस्थानम्।

—न्यायकन्दली

अर्थात् मोक्ष का अर्थ *संयोग* नहीं, किन्तु *वियोग* है।* मोक्षावस्था मे आत्मा का किसी विशेष गुण के साथ संयोग नहीं होता है, किन्तु औपाधिक गुण से विच्छेद हो जाता है। तभी आत्मा अपने शुद्ध रूप मे आता है। इसी स्वरूपावस्थान का नाम मोक्ष है।

चार्वाक का मत है—

देहोच्छेदो मोक्षः।

अर्थात् शरीरान्त (मृत्यु) का नाम ही मोक्ष है।

यदि ऐसा होता तो कोई भी जब चाहे आत्महत्या कर मुक्त हो जाता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। जबतक वासना संस्कार का अन्त नहीं होता तबतक जन्म-मरण परम्परा से छुटकारा नहीं मिलता। मृत्यु के बाद कर्मानुसार पुनर्जन्म होता है। इसलिये एक शरीर का विच्छेद होने से ही मोक्ष नहीं मिल जाता।

बौद्धों का सिद्धान्त है—

आत्मोच्छेदो मोक्षः।

अर्थात् जीव का *निर्वाण* (Extinction) हो जाना ही मुक्ति है।

किन्तु न्यायवैशेषिक इस बात को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि आत्मा दिक्, काल की तरह नित्य पदार्थ है। फिर उसका उच्छेद या विनाश कैसे हो सकता है ? †

विनाश होता है आत्मा के औपाधिक गुण का। जीव का उपाधि-भूत लिङ्ग शरीर के साथ संयोग होने पर उसमें 'कर्तृत्व' 'भोक्तृत्व' आदि गुण उत्पन्न होते हैं। पाँचो प्राण, मन, बुद्धि, दशो इन्द्रियाँ, इनसे समन्वित भौतिक द्रव्यों का बना हुआ सूक्ष्म-शरीर आत्मा के लिये भोग का साधन होता है।

---

* बाधनालक्षण दुःखम्। तदपवर्गो मोक्ष।

—न्या० सू० १।१।२१-२२

† नोच्छेदो नित्यत्वात्।

—न्यायकन्दली

पञ्च प्राण मनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोऽर्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥

इस औपाधिक भोगयन्त्र से शाश्वत निवृत्ति पा जाना ही आत्मा की मुक्तावस्था है। मुक्तजीव अजन्मा[1] अभय[2] और अमर[3] हो जाता है।

मोक्ष का साधन—न्याय की तरह वैशेषिक का भी यही सिद्धान्त है कि तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। गौतम[4] और कणाद[5] दोनों ही यही मानते हैं कि—

तत्त्वज्ञानान्मुक्तिः।

मुक्ति किस प्रकार होती है इसे प्रशस्तपादाचार्य यों समझाते हैं—

ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसंकल्पितफलाद्विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायः। जिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्योत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते। तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति। —पदार्थधर्मसंग्रह।

इसकी व्याख्या करते हुए श्रीधराचार्य कहते हैं—

अकुलीनस्य श्रद्धा न भवति। न चाश्रद्दधानस्य जिज्ञासा सम्भवते। न चाजिज्ञासोः तत्त्वज्ञानम्। तद्विकलस्य च नास्ति मोक्षप्राप्तिः। श्रवणमनननिदिध्यासनक्रमेण प्रत्यक्षं भवति। उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य सवासनविपर्ययज्ञाननिवृत्तौ। विरक्तस्य विच्छिन्नरागद्वेषसंस्कारस्य तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पादः क्लेशवासनोपनिबद्धा हि प्रवृत्तयस्तुषावनद्धा इव तण्डुलाः प्ररोहन्ति क्षीणेषु क्लेशेषु निस्तुषा इव तण्डुलाः कार्यं न प्रतिसन्दधते।

—न्यायकन्दली।

---

१ न स भूयोऽभिजायते (अ० वि० ३८)

२ सोऽभयगतोभवति (तै० २।७।१)

३ अमृतत्व च गच्छति (का० ६।८)

४ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

—गौतमसूत्र।

५ धर्मविशेषप्रसूतात्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

—कणादसूत्र।

अब इसका भावार्थ समझिये। उत्तम कुल में जन्म होने से मनुष्य श्रद्धालु होता है। अकुलीन व्यक्ति में प्रायः श्रद्धा का अभाव पाया जाता है। विना श्रद्धा के जिज्ञासा नहीं होती। और विना जिज्ञासा के तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः ज्ञानप्राप्ति के निमित्त कुलीनता, श्रद्धालुता और जिज्ञासुता ये सब आवश्यक साधन हैं। और तत्त्वज्ञान हो जाने पर ही जीव को मोक्ष मिलता है। अतः तत्त्वज्ञान मोक्ष का प्रकृष्टतम साधन है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार होता है। यथार्थज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञान एवं वासना की निवृत्ति हो जाती है और विषय से वैराग्य हो जाता है। न किसी वस्तु में आसक्ति रहती है न किसी में द्वेष। इस तरह रागद्वेष का संस्कार विच्छिन्न हो जाने पर धर्म-अधर्म की उत्पत्ति नहीं होने पाती। वासना से पिंड छूट जाने पर प्रवृत्तियाँ उसी तरह कुंठित हो जाती हैं, जिस तरह भूसे से अलग हो जाने पर चावल प्ररोहण क्रिया में असमर्थ हो जाता है। अर्थात् बीज की उत्पादन शक्ति नष्ट हो जाने से आगे वंश-विस्तार नहीं होने पाता। इस प्रकार जननादि क्रिया से लेकर जो क्लेश-जाल है उससे विमुक्ति हो जाती है।

इसी बात को शिवादित्य थोड़े में यों प्रकट करते हैं—

निःश्रेयसं पुनस्तत्त्वज्ञानोत्पाद्य मिथ्याज्ञानकारणप्रध्वंससमानाधिकरण तत्कार्यसमस्तदुःखाभावः

—सप्तपदार्थी

अब यह तत्त्वज्ञान है क्या वस्तु ?

तत्त्वमनारोपितं रूपम्।

तस्य ज्ञानमनुभवः।

—सप्तपदार्थी

जिस वस्तु का जो यथार्थ रूप है (अर्थात् कल्पित वा आरोपित रूप नहीं), उसे उसी प्रकार जानना ही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है।

यह ज्ञान (१) *श्रवण*, (२) मनन, (३) *निदिध्यासन* तथा (४) साक्षात्कार, इन चार प्रकारों से प्राप्त होता है।*

मितभाषिणी में इन चारों के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) *श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु शब्दतात्पर्यावधारणं श्रवणम्।*

(२) *असम्भावना विपरीतभावनानिरासेन युक्तिभिरनुचिन्तनं मननम्।*

(३) *श्रुतस्य मतस्य तथैव ध्यानं निदिध्यासनम्।*

(४) *इदमित्थमेवेत्यपरोक्षज्ञानं साक्षात्कारः।*

---

* स च श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारलक्षणश्च चतुर्विधः

—सप्तपदार्थी

श्रवण का अर्थ है वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण के वचनों का अभिप्राय समझना।

मनन का अर्थ है युक्ति के द्वारा उसके अर्थ का अनुशीलन करना।

निदिध्यासन का अर्थ है श्रवण और मनन किये हुए पदार्थ का यथावत् ध्यान करना।

साक्षात्कार का अर्थ है *'इस वस्तु का असली तत्त्व यह है'* ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना।

आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर जीव भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।

आत्मसाक्षात्कारो मोक्षहेतुः

—वै० उ०

मुक्त हो जाने पर जीव संसार से निवृत्त हो जाता है।*

निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमः

—पदार्थधर्मसंग्रह

जिस प्रकार इन्धन जल जाने पर अग्नि आप-ही-आप शान्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्तिदोष (औपाधिक गुण) के निर्बीज हो जाने पर आत्मा शरीरादि के बन्धन से मुक्त हो कर शान्त हो जाता है। इसी अवस्था का नाम 'मोक्ष' है।

---

* निवृत्तेऽे संसारोऽस्य इति निवृत्तिः
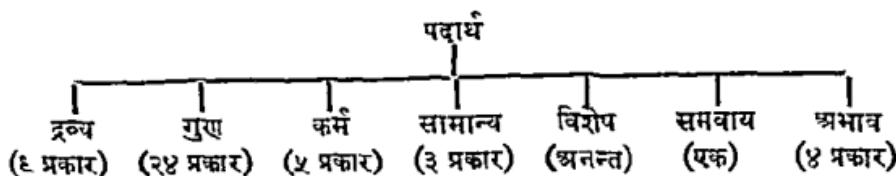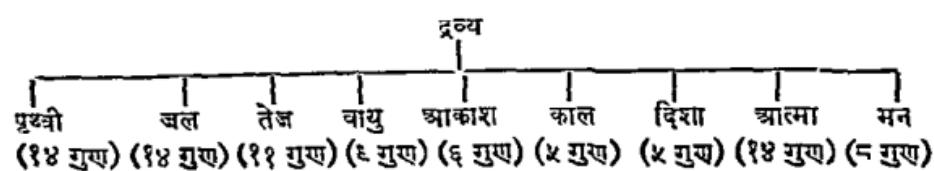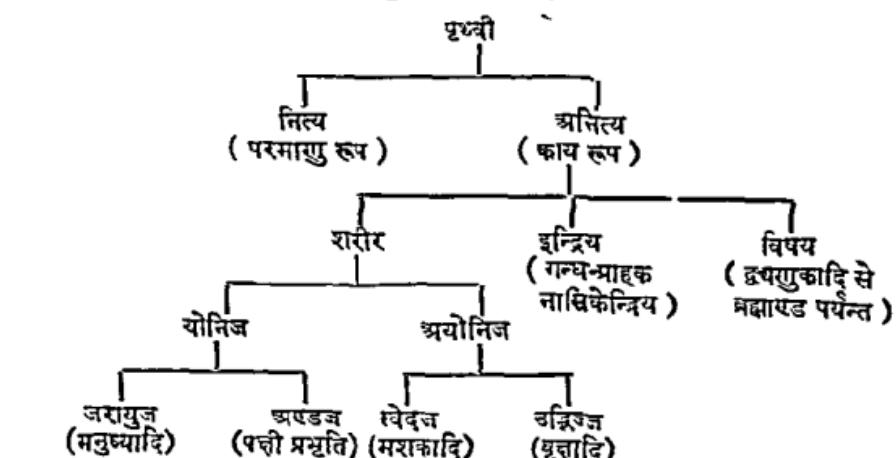
परिशिष्ट

(१)

सात प्रकार के पदार्थ

- पदार्थ
  - द्रव्य (९ प्रकार)
  - गुण (२४ प्रकार)
  - कर्म (५ प्रकार)
  - सामान्य (३ प्रकार)
  - विशेष (अनन्त)
  - समवाय (एक)
  - अभाव (४ प्रकार)

(२)

नौ प्रकार के द्रव्य *

- द्रव्य
  - पृथ्वी (१४ गुण)
  - जल (१४ गुण)
  - तेज (११ गुण)
  - वायु (९ गुण)
  - आकाश (६ गुण)
  - काल (५ गुण)
  - दिशा (५ गुण)
  - आत्मा (१४ गुण)
  - मन (८ गुण)

(३)

पृथ्वी के प्रभेद

- पृथ्वी
  - नित्य (परमाणु रूप)
  - अनित्य (कार्य रूप)
    - शरीर
      - योनिज
        - जरायुज (मनुष्यादि)
        - अण्डज (पक्षी प्रभृति)
      - अयोनिज
        - स्वेदज (मशकादि)
        - उद्भिज्ज (वृक्षादि)
    - इन्द्रिय (गन्ध-ग्राहक नासिकेन्द्रिय)
    - विषय (द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्ड पर्यन्त)

---

* वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ।

(४)

पृथ्वी के चौदह गुण

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।

—भा० प० ३२

पृथ्वी

सामान्य गुण
१ संख्या
२ परिमाण
३ पृथक्त्व
४ संयोग
५ विभाग
६ परत्व
७ अपरत्व
८ गुरुत्व
९ वेग
१० द्रवत्व (नैमित्तिक)

विशेष गुण
१ गन्ध
२ स्पर्श (अनुष्णाशीत, कठिन)
३ रस (षड्विध)
४ रूप (सप्तविध)
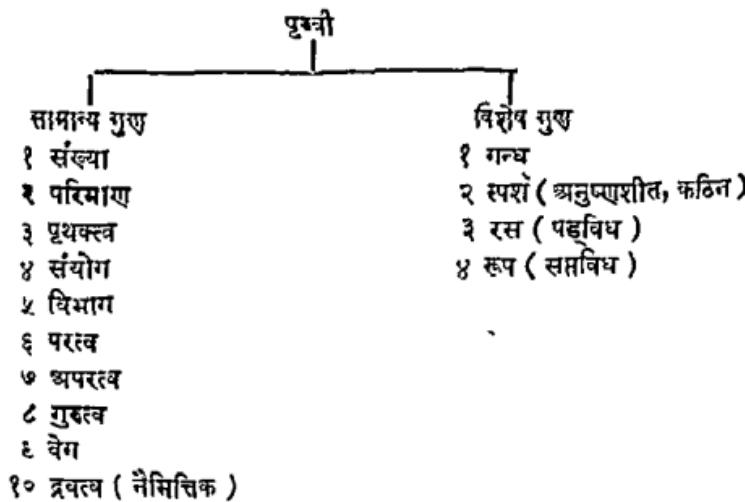
(५)

जल के प्रभेद

( )
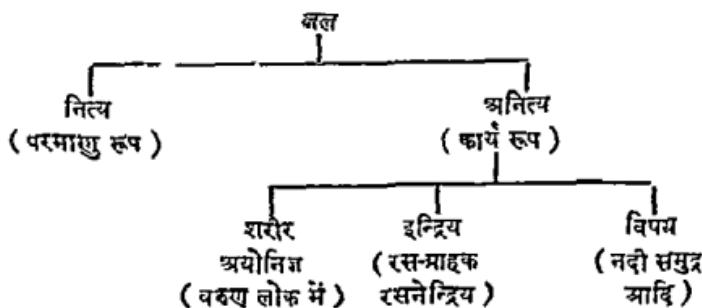
जल के चौदह गुण

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वञ्च द्रवत्वकम्
रूपो रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ।
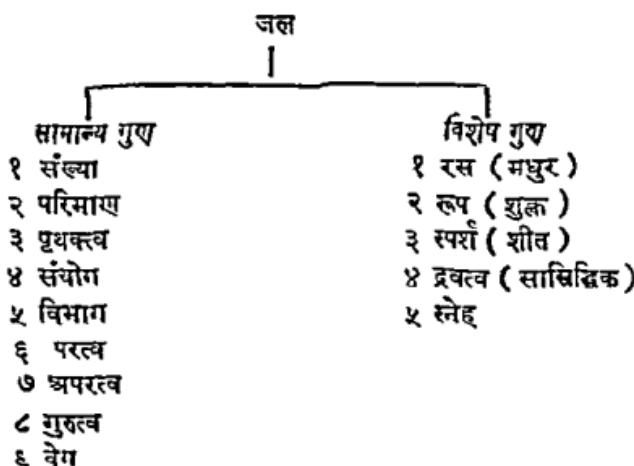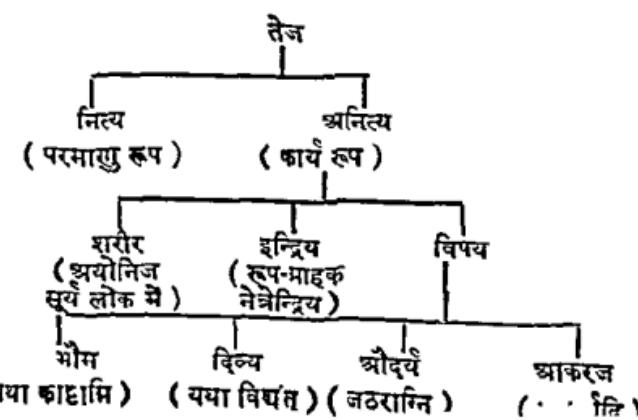
—भा० प० ३१

जल

सामान्य गुण
१ संख्या
२ परिमाण
३ पृथक्त्व
४ संयोग
५ विभाग
६ परत्व
७ अपरत्व
८ गुरुत्व
९ वेग

विशेष गुण
१ रस (मधुर)
२ रूप (शुक्ल)
३ स्पर्श (शीत)
४ द्रवत्व (सांसिद्धिक)
५ स्नेह

(७)

तेज के प्रभेद

तेज

नित्य (परमाणु रूप)

अनित्य (कार्य रूप)

- शरीर (अयोनिज सूर्य लोक में)
- इन्द्रिय (रूप-ग्राहक नेत्रेन्द्रिय)
- विषय
  - भौम (यथा काष्ठाग्नि)
  - दिव्य (यथा विद्युत)
  - औदर्य (जठराग्नि)
  - आकरज ([illegible])

(८)

तेज के ग्यारह गुण

स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ।

—भा० प० ३०

तेज

सामान्य गुण	विशेष गुण
१ संख्या	१ स्पर्श (उष्ण)
२ परिमाण	२ रूप (भास्वर शुक्ल)
३ पृथक्त्व	
४ संयोग	
५ विभाग	
६ परत्व	
७ अपरत्व	
८ वेग	
९ द्रवत्व (नैमित्तिक)	

(९)

वायु के प्रभेद

वायु

- नित्य (परमाणु रूप)
- अनित्य
  - शरीर (अयोनिज)
  - इन्द्रिय (स्पर्श-ग्राहक त्वचेन्द्रिय)
  - विषय (प्राण, अपान आदि)

(१०)

वायु के नौ गुण

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणः।

—भा० प० ३०

वायु

सामान्य गुण	विशेष गुण
१ संख्या	१ स्पर्श (अपाकज, अनुष्णाशीत, विलक्षण)
२ परिमाण	
३ पृथक्त्व	
४ संयोग	
५ विभाग	
६ परत्व	
७ अपरत्व	
८ वेग	

(११)

आकाश के छः गुण

संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे।

—भा० प० ३३

आकाश

सामान्य गुण	विशेष गुण
१ संख्या	१ शब्द
२ परिमाण	
३ पृथक्त्व	
४ संयोग	
५ विभाग	
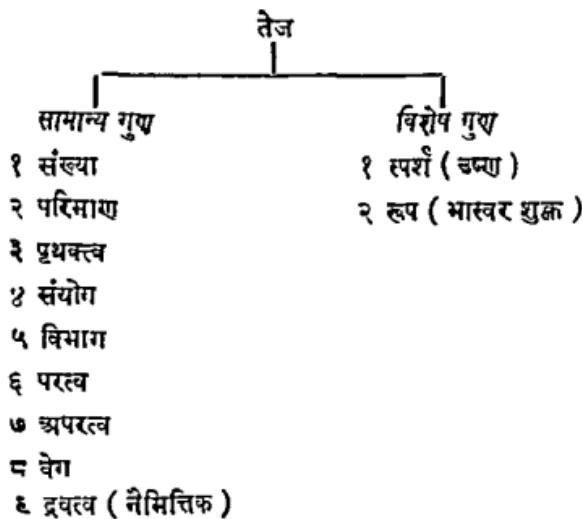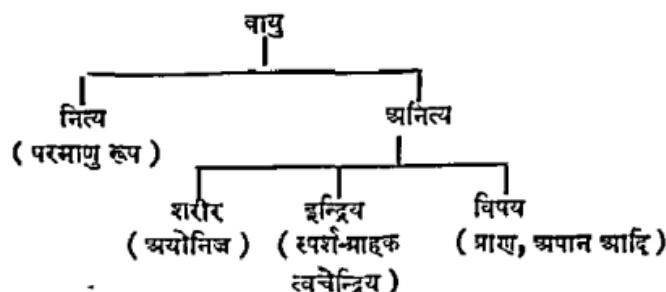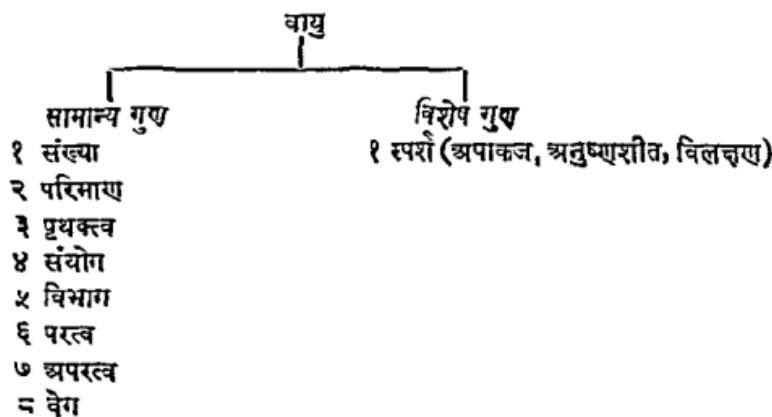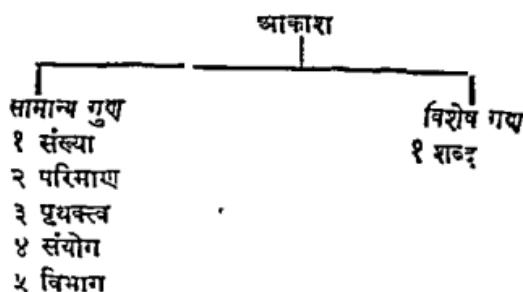
(१२)

दिक् और काल

(१) समानता

(क) दिक् और काल, दोनों ही *नित्य*, *सर्वव्यापी* और *अनन्त* हैं।

(ख) दिक् और काल दोनों ही वस्तुतः एक होते हुए भी उपाधि-भेद से *नाना* प्रतीत होते हैं।

(ग) दिक् और काल, दोनों में ये पाँच गुण समवेत हैं—(१) *संख्या*, (२) *परिमाण*, (३) *पृथक्त्व*, (४) *संयोग* और (५) *विभाग*।

(२) अन्तर

(क) दिक् *दूरादि* व्यवहार का हेतु है; काल *अतीतादि* व्यवहार का कारण है।

(ख) उपाधि-भेद से काल के तीन प्रभेद होते हैं—(१) *भूत*, (२) *वर्त्तमान* और (३) *भविष्यत्*। दिक् के दश प्रभेद होते हैं—(१) *पूर्व*, (२) *आग्नेय*, (३) *दक्षिण*, (४) *नैऋत्य*, (५) *पश्चिम*, (६) *वायव्य*, (७) *उत्तर*, (८) *ईशान*, (९) *ऊर्द्ध्व* (ऊपर) और (१०) अधः (नीचे)।

(ग) दिक् एक सम्बन्ध (*दैशिक सम्बन्ध*) से संसार का आश्रय है; काल दूसरे सम्बन्ध (*कालिक सम्बन्ध*) से संसार का आश्रय है।

(१३)

आत्मा के प्रभेद

आत्मा

(ज्ञान या चैतन्य का आश्रय है)

जीवात्मा	परमात्मा
(स्वल्प-विषयक अनित्य ज्ञानवान्)	सर्व-विषयक नित्य ज्ञानवान्)
शरीर-भेद से अनन्त हैं।	एक है।

(१४)

जीवात्मा के चौदह गुण

बुद्धयादि षट्कं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश।

—भा० प० ३२-३३

जीवात्मा

सामान्य गुण	विशेष गुण
१ संख्या	१ बुद्धि
२ परिमाण	२ सुख
३ पृथक्त्व	३ दुःख
४ संयोग	४ इच्छा
५ विभाग	५ द्वेष
	६ प्रयत्न
	७ भावना
	८ धर्म
	९ अधर्म

नोट—मुक्तावस्था में केवल सामान्य धर्म रह जाते है, विशेष गुणों का (बुद्धि, सुख, दुःख आदि का) अभाव हो जाता है।

(१५)

परमात्मा के आठ गुण

संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे

—भा० प० ३४

परमात्मा

सामान्य गुण	विशेष गुण
१ संख्या	१ बुद्धि
२ परिमाण	२ इच्छा
३ पृथक्त्व	३ प्रयत्न
४ संयोग	
५ विभाग	

(१६)

मन के आठ गुण

परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे

—भा० प० ३४

मन

सामान्य गुण
१ संख्या (अनन्त)
२ परिमाण (अणु रूप)
३ पृथक्त्व
४ संयोग
५ विभाग
६ परत्व
७ अपरत्व
८ वेग

विशेष गुण
[यह प्रत्येक आत्मा में सुखादि की उपलब्धि का साधन है।]

(१७)

रूप

(१) यह विशेष गुण पृथ्वी, जल और तेज में रहता है।
(२) पूर्वोक्त द्रव्यों के अतिरिक्त और किसी में नहीं रहता।
(३) इसका ज्ञान केवल नेत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है।
(४) यह नेत्र का सहकारी है।
(५) यह पृथ्वी, जल और तेज के प्रत्यक्ष में कारण है।
(६) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।
(७) रूपके भिन्न-भिन्न प्रभेद ये हैं—(१) शुक्ल, (२) नील, (३) पीत, (४) रक्त, (५) हरित, (६) कपिश (भूरा) और चित्र (विभिन्न)।
(८) शुक्ल दो प्रकार का होता है—भास्वर (चमकीला) और अभास्वर। भास्वर शुक्ल रूप केवल तेज का होता है; अभास्वर, जल और पृथ्वी का।
(९) पार्थिव परमाणुओं का रूप पाकज होता है। जल और तेज में अपाकज रूप होता है।
(१०) पाकज होने के कारण पार्थिव रूप अनित्य होता है। जल और तेज के परमाणुओं का रूप अपाकज होने के कारण नित्य है।

(१८)

स्पर्श

(१) यह विशेष गुण पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है।

(२) इसका ज्ञान केवल त्वचा के द्वारा होता है।

(३) यह त्वचा का सहकारी है।

(४) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(५) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

(६) इसके भिन्न-भिन्न प्रभेद यों हैं -(१) *शीत*, (२) *उष्ण* और (३) *अशीतोष्ण*। जल में *शीत*, तेज में *उष्ण*, और वायु तथा पृथ्वी में *अशीतोष्ण* स्पर्श रहता है।

(७) पृथ्वी का स्पर्श *पाकज* और वायु का स्पर्श *अपाकज* होता है।

(८) जल तेज और वायु के परमाणुओं का स्पर्श नित्य होता है। पार्थिव परमाणुओं का स्पर्श पाकज होने के कारण अनित्य होता है।

(१९)

शब्द

(१) यह विशेषगुण केवल आकाश में रहता है।

(२) इसका ज्ञान केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है।

(३) यह श्रोत्र का सहकारी है।

(४) यह समवाय सम्बन्ध से रहता और समवाय सन्निकर्ष से जाना जाता है।

(५) इसकी उत्पत्ति अभिघात से होती है। '*कदम्ब गोलक न्याय*' या '*वीची तरङ्ग-न्याय*' इसका प्रसार होता है।

(६) '*ध्वन्यात्मक*' और '*वर्णात्मक*' भेद से यह दो प्रकार का होता है।

(७) यह शब्द-ज्ञानादि का जनक है।

(८) यह अपाकज है।

(९) यह अव्याप्यवृत्ति है।

(१०) स्वप्रत्यक्ष का कारण है।

(११) अनित्य है।

(२०)

रस

(१) यह विशेष गुण पृथ्वी और जल में रहता है, और किसी द्रव्य में नहीं।

(२) इसका ज्ञान केवल रसना (जिह्वा) के द्वारा होता है।

(३) यह रसना का सहकारी है।

(४) यह द्रव्य में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(५) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

(६) इसके भिन्न-भिन्न प्रभेद यों हैं—(१) मधुर, (२) अम्ल, (३) कटु, (४) लवण, (५) तिक्त, (६) कषाय।

(७) जल का रस शुद्ध मधुर होता है। और-और रस केवल पार्थिव वस्तुओं में पाये जाते हैं।

(८) पार्थिव वस्तुओं का रस *पाकज* और जल का रस *अपाकज* होता है।

(९) केवल जल-परमाणु का रस नित्य है, और सब रस अनित्य हैं।

(२१)

गन्ध

(१) यह विशेष गुण केवल पृथ्वी में रहता है, और किसी द्रव्य में नहीं।

(२) इसका ज्ञान केवल घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है।

(३) यह घ्राणेन्द्रिय का सहकारी है।

(४) यह पार्थिव द्रव्यों में व्याप्यवृत्ति होकर रहता है।

(५) यह स्वप्रत्यक्ष में कारण होता है।

(६) इसके दो प्रभेद होते हैं—*सौरभ* (सुगन्ध) और *असौरभ* (दुर्गन्ध)।

(७) यह पाकज होने के कारण अनित्य है।

(२२)

संख्या

(१) यह गुण सामान्य है अर्थात् सभी द्रव्यों में रहता है।

(२) यह *गणना* व्यवहार का असाधारण कारण है।

(३) इसका ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है।

(४) यह नेत्र और त्वचा का सहकारी है।

(५) यह परिमाण का जनक है।

(६) यह द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता और संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है।

(७) यह गुण अपाकज है।

(८) नित्यगत एकत्व नित्य और अनित्यगत एकत्व अनित्य होता है।

(९) द्वित्वादि संख्यारूप धर्म अपेक्षा-बुद्धि * से उत्पन्न होता है और अपेक्षा-बुद्धि एवं आश्रय के नाश से नष्ट होता है।

(१०) यह अनन्त है।

(२३)

परिमाण

(१) यह गुण सामान्य है अर्थात् सभी द्रव्यों में रहता है।

(२) यह *मान* व्यवहार का असाधारण कारण है।

(३) यह समवाय सम्बन्ध से रहता और संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है।

(४) इसका ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है।

(५) यह *अणुत्व*, *दीर्घत्व*, *महत्व*, *ह्रस्व* भेद से चतुर्विध है।

(६) नित्यगत परिमाण *नित्य* और अनित्यगत परिमाण *अनित्य* होता है।

(७) अनित्यगत परिमाण द्वित्वादि *संख्या* और *प्रचय* (फैलाव) के कारण उत्पन्न होता है। (जैसे—रुई का परिमाण।)

(८) यह व्याप्यवृत्ति धर्म है।

(९) यह गुण अपाकज है।

(२४)

पृथक्त्व

(१) यह सामान्य गुण है अर्थात् सभी द्रव्यों मे रहता है।

(२) यह *भिन्नता* की प्रतीति का असाधारण कारण है।

* अयमेकः अयमेकः इत्याकारकं ज्ञानमपेक्षा बुद्धिः।

(३) यह समवाय सम्बन्ध से रहता और संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है।

(४) इसका ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है।

(५) यह एकविध है।

(६) नित्यगत पृथक्त्व नित्य और अनित्यगत पृथक्त्व अनित्य होता है।

(७) यह गुण व्याप्यवृत्ति है।

(८) यह अपाकज और अकर्मज है।

(२५)

संयोग और विभाग

(१) ये सामान्य गुण हैं अर्थात् सभी द्रव्यों में रहनेवाले हैं।

(२) ये दोनों गुण कर्मज हैं अर्थात् कर्म के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है।

(३) ये दोनों अव्याप्यवृत्ति धर्म हैं अर्थात् अपने आधार के सर्वाङ्ग में व्याप्त नहीं रहते।

(४) ये समवाय सम्बन्ध से रहते और संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होते हैं।

(५) इनका ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है।

(६) कार्यद्रव्यों के भेद से ये अनन्त होते हैं।

(७) कर्मज होने के कारण ये अनित्य हैं।

(२६)

परत्व और अपरत्व

(१) ये गुण दूरत्व (दैशिक वा कालिक) तथा *सामीप्य* (दैशिक वा कालिक) की प्रतीति के असाधारण कारण हैं।

(२) दैशिक परत्व और अपरत्व का ज्ञान नेत्र और त्वचा के द्वारा होता है। किन्तु कालिक परत्व और अपरत्व अतीन्द्रिय हैं।

(३) ये मूर्त्त द्रव्यों के गुण हैं।

(४) ये समवाय सम्बन्ध से रहते और संयुक्त समवाय के द्वारा जाने जाते हैं।

(५) ये अपाकज और अकर्मज हैं।

(६) ये व्याप्यवृत्ति धर्म हैं।

(७) ये नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य होते हैं।

(२७)

सामान्य और विशेष गुणों पर विचार

(१) पाँच सामान्य गुण—निम्नोक्त पाँच गुण ऐसे हैं जो सभी द्रव्यों में रहते हैं—

(१) संख्या
(२) परिमाण
(३) पृथक्त्व
(४) संयोग
(५) विभाग

ये सामान्य गुण *सकलद्रव्यवृत्तिक* (अर्थात मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्यों में रहनेवाले) हैं।

(२) पंचभूतों के विशेष गुण—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँचो द्रव्य पंचभूत हैं। इनमें पूर्वोक्त पाँच सामान्य गुणों (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग) के अतिरिक्त और कोई गुण समान नहीं है। कोई गुण किसी द्रव्य में है तो दूसरे द्रव्य में नहीं है। जैसे 'गन्ध' केवल पृथ्वी में है, 'शब्द' केवल आकाश का गुण है; 'स्नेह' केवल जल में पाया जाता है। ऐसे गुणों को 'विशेष गुण' कहते हैं। निम्नलिखित तालिका में पंचभूतों के विशेष गुण दिखलाये जाते हैं—

द्रव्य	स्पर्श	रूप	रस	गन्ध	शब्द	स्नेह	गुरुत्व	द्रवत्व	वेग	परत्व	अपरत्व
पृथ्वी	है	है	है	है	×	×	है	है	है	है	है
जल	है	है	है	×	×	है	है	है	है	है	है
तेज	है	है	×	×	×	×	×	है	है	है	है
वायु	है	×	×	×	×	×	×	×	है	है	है
आकाश	×	×	×	×	है	×	×	×	×	×	×

(३) पंचमूर्त्तों के आठ सामान्य गुण—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन, ये पाँचों द्रव्य 'पंचमूर्त्त' कहलाते हैं। इनमें पाँच सामान्य गुणों (*संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग*) के अतिरिक्त ये तीनों गुण भी समान पाये जाते हैं—(१) परत्व (२) *अपरत्व* और (३) वेग। अतः पंचमूर्त्तों में आठ गुण सामान्य हैं।

(४) आत्मा के नौ विशेष गुण—निम्नलिखित नौ गुण केवल आत्मा में ही पाये जाते हैं और किसी द्रव्य में नहीं। अतएव ये आत्मा के विशेष गुण हैं—(१) *सुख* (२) *दुःख* (३) *इच्छा* (४) *द्वेष* (५) *यत्न* (६) *भावना* (७) *धर्म* (८) *अधर्म* (९) *बुद्धि*।

(५) मूर्त्त द्रव्यों के खास गुण—निम्नलिखित गुण केवल मूर्त्त द्रव्यों में ही पाये जाते हैं—(१) *रूप* (२) *रस* (३) *गन्ध* (४) *स्पर्श* (५) *परत्व* (६) *अपरत्व* (७) *द्रवत्व* (८) *स्नेह* (९) *वेग*। आकाश, आत्मा आदि अमूर्त्त द्रव्यों में ये गुण नहीं पाते जाते।

(६) अमूर्त्त द्रव्यों के खास गुण—निम्नलिखित गुण केवल अमूर्त्त द्रव्यों में ही पाये जाते हैं—(१) *धर्म* (२) *अधर्म* (३) *भावना* (४) *बुद्धि* (५) *सुख* (६) *दुःख* (७) *इच्छा* (८) *द्वेष* (९) *यत्न* (१०) *शब्द*। पृथ्वी, जल आदि मूर्त्त द्रव्यों में ये गुण नहीं पाये जाते।

(७) पाँच उभयनिष्ठ गुण—(१) *संख्या* (२) *परिमाण* (३) *पृथक्त्व* (४) *संयोग* (५) *विभाग*—ये पाँचो गुण सभी मूर्त्त (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) और अमूर्त्त (आकाश, काल, दिशा, आत्मा) द्रव्यों में रहते हैं।

(८) चार अनेकाश्रित गुण—(१) *संयोग* (२) *विभाग* (३) *द्वित्वादि संख्या* (४) *द्विपृथक्त्वादि*—ये चार गुण ऐसे हैं जो एक द्रव्य में आश्रित होकर नहीं रहते। अर्थात् इनके लिये एक से अधिक आधार द्रव्य की आवश्यकता होती है। इनसे भिन्न और जितने गुण हैं, उनमें यह बात नहीं। [जैसे, रूप आदि गुण एकैकवृत्ति होते हैं। अर्थात् वे एक ही आधार को पकड़ कर रहते हैं।]

१—रूप रस स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्वस्नेहवेगाश्च मूर्त्तामूर्त्तगुणा अमी।
—भा० प० ८७

२—धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च
एतेऽमूर्त्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्त्तिताः।
—भा० प० ८८

३—संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः
—भा० प०

४—संयोगश्च विभागश्च संख्याद्वित्वादिकास्तथा।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः।
अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः।
—भा० प० ८९-९०

(९) सोलह विशेष गुण—

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः
—भा० प० ९०

(१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) यत्न (७) रूप (८) रस (९) गन्ध (१०) स्पर्श (११) स्नेह (१२) सांसिद्धिक द्रवत्व (१३) धर्म (१४) अधर्म (१५) भावना (१६) शब्द—ये विशेष गुण कहलाते हैं।

(१०) दस सामान्य गुण—

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः।
—भा० प० ९१

(१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग (६) परत्व (७) अपरत्व (८) नैमित्तिक द्रवत्व (९) गुरुत्व (१०) वेग—ये सामान्य गुण कहलाते हैं।

(११) पाँच एकेन्द्रियग्राह्य गुण—

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्या अथ स्पर्शान्त शब्दकाः।
—भा० प० ९३

(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) शब्द—ये पाँचो गुण ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक का ज्ञान केवल एक एक इन्द्रिय (१ चक्षु, २ रसना, ३ घ्राण, ४ त्वचा और ५ श्रोत्र) के द्वारा होता है।

(१२) नौ द्वीन्द्रियग्राह्य गुण—

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः•••
—भा० प० ९२

(१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग (६) परत्व (७) अपरत्व (८) द्रवत्व (९) स्नेह—ये नौ गुण ऐसे हैं जिनका ज्ञान नेत्र और त्वचा दोनों इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है।

(१३) चार अतीन्द्रिय गुण *—

(१) धर्म (२) अधर्म (३) भावना और (४) गुरुत्व—ये चारों अतीन्द्रिय गुण हैं।

(१४) तीन कर्मज गुण—

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैतेतु कर्मजाः

—भा. प. ६६

(१) *संयोग* (२) *विभाग* और (३) *वेग*—ये तीन गुण कर्मज हैं, अर्थात् क्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

(१५) बारह कारणगुणोत्पन्न गुण—

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम्।
स्नेहवेगौ गुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणके।
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः।

—भा. प. ६५-६६।

अपाकज रूप, रस, गन्ध स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, वेग, गुरुत्व, एकत्व, पृथक्त्व, परिमाण, स्थितिस्थापक संस्कार—ये सब गुण *कारणगुणोत्पन्न* हैं। क्योंकि ये स्वाश्रय के समवायिकारण (अवयव) के गुण से कार्य (अवयवी) में उत्पन्न होते हैं।

(१६) दस अकारणगुणोत्पन्न गुण—

··· *विभूनां तु, ये स्युर्वैशेषिका गुणाः।*
अकारणगुणोत्पन्ना एतेतु परिकीर्तिताः।

—भा. प. ६४

विभु के विशेष गुण [अर्थात् (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख, (४) इच्छा (५) द्वेष (६) यत्न (७) धर्म (८) अधर्म (९) *भावना* (१०) शब्द] *अकारणगुणोत्पन्न* होते हैं। क्योंकि आत्मा वा आकाश का कोई कारण नहीं होता।

---

* गुरुत्वादृष्टभावना अतीन्द्रिया
—भा० प० ६३-६४

(१७) केवल असमवायिकारण होनेवाले गुण—

संशान्त परिमाणैकपृथक् त्वस्नेहशब्दके
भवेदसमवायित्वं

—भा. प. ६७

(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) परिमाण (६) एकत्व (७) एकपृथक्त्व (एक मात्र निष्ठ पृथक्त्व) (८) स्नेह (९) शब्द —ये गुण केवल असमवायिकारण होते हैं (निमित्त कारण नहीं)।

(१८) केवल निमित्त कारण होनेवाले गुण—

······अथ वैशेषिके गुणे ।
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्······ ।

—भा० प० ६७-६८

आत्मा के जो विशेष गुण हैं [अर्थात् (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) यत्न (७) धर्म (८) अधर्म (९) भावना] वे केवल निमित्त कारण मात्र होते हैं (असमवायि कारण नहीं)।

(१९) असमावयि और निमित्त कारण होनेवाले गुण—

······उष्णस्पर्श गुरुत्वयोः ।
वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादि द्वये तथा ।
द्विधैव कारणत्वं स्यात्············ ।

—भा० प० ६८-६९

(१) उष्ण स्पर्श (२) गुरुत्व (३) वेग (४) द्रवत्व (५) संयोग (६) विभाग—ये सब गुण असमवायि कारण भी होते हैं और निमित्त कारण भी।

(२०) अव्याप्यवृत्ति गुण—

······अथ प्रादेशिको भवेत् ।
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादि द्वयं तथा ।

—भा० प० ६९

विभु के विशेष गुण [अर्थात् (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) यत्न (७) धर्म (८) अधर्म (६) भावना (१०) शब्द (११) संयोग और (१२) विभाग, ये सब गुण] अव्याप्यवृत्ति होते हैं। अर्थात् अपने अधिकरण के सर्वदेश में इनकी व्याप्ति नहीं होती।

(२८)

पदार्थों का साधर्म्य निरूपण

(१) सातो पदार्थों का साधर्म्य—

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते

—भा० प० १३

सातों पदार्थों के समान धर्म ये हैं—(१) *ज्ञेयत्व* (अर्थात् वे ज्ञान के विषय हो सकते हैं)। (२) *अभिधेयत्व* (अर्थात् उन को नाम दिया जा सकता है)।

(२) द्रव्यादि पाँच पदार्थों का साधर्म्य—

द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः।

—भा० प० १

द्रव्य, *गुण*, *कर्म*, *सामान्य*, और *विशेष*, इन पाँचों भाव-पदार्थों का समान धर्म है—*अनेकत्व* + *समवायित्व*। द्रव्य नौ प्रकार के, गुण चौबीस प्रकार के, कर्म पाँच प्रकार के, सामान्य तीन प्रकार के और विशेष अनन्त प्रकार के होते हैं। इस तरह '*अनेकत्व*' धर्म समान है। *समवायित्व* का अर्थ है समवाय सम्बन्ध विशिष्टत्व। *द्रव्य*, गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी, तथा सामान्य और विशेष समवाय सम्बन्ध के प्रतियोगी होने के कारण समवायी कहे गये हैं।

(३) सामान्यादि चार पदार्थों का साधर्म्य—

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयोमताः।

—भा० प० १५

सामान्य, *विशेष*, समवाय और अभाव, इन चारों का साधर्म्य इस बात को लेकर है कि ये ...

(४) नित्यद्रव्येतर पदार्थों का साधर्म्य—

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

—भा० प० २४

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इन चारों के परमाणु तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, ये सब नित्य द्रव्य हैं। इनसे भिन्न पदार्थों का समान धर्म है आश्रितत्व। अर्थात् उनकी स्थिति और किसी वस्तु के ऊपर निर्भर रहती है। नित्य द्रव्य निरपेक्ष होते हैं। केवल कालिक-दैशिक विशेषण उनपर लागू होते हैं। किन्तु अनित्य कार्यद्रव्यों का अस्तित्व सम्बन्ध-विशेष (यथा संयोग) का आश्रित होता है। इसी तरह गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि आश्रयापेक्ष होते हैं।

(५) सभी द्रव्यों का साधर्म्य—

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता।

—भा० प० २४

पृथ्वी आदि नवों द्रव्यों का साधर्म्य है—(१) द्रव्यत्व जाति और (२) गुणवत्ता। अर्थात् द्रव्य मात्र में द्रव्यत्व जाति और गुण रहते हैं।

(६) मूर्त्त द्रव्यों का साधर्म्य—

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्त्तत्व क्रियावेगाश्रया अमी।

—भा० प० २५

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन, इन पाँच द्रव्यों के समान धर्म ये हैं—(१) परत्व (२) अपरत्व (३) मूर्त्तत्व (४) क्रियावत्त्व और (५) वेगवत्त्व।

नोट—मूर्त्त का अर्थ है परिछिन्न (सीमित) परिमाणवाला। परममहत्व परिमाणवाले द्रव्य (यथा आकाश या काल) मूर्त्त नहीं कहे जाते।

(७) कालादि द्रव्यों का साधर्म्य—

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।

काल, आकाश, आत्मा और *दिशा*—इन चारों के समान धर्म हैं (१) *विभुत्व* (सर्वगतत्व अथवा सर्वमूर्त्तसंयोगित्व) और (२) *परममहत् परिमाण* ।

(८) भूतों के साधर्म्य—

क्षित्यादि पञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ।
द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात् .... ।

—भा० प० २६ २७

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और *आकाश*—इन पाँच द्रव्यों का समान धर्म है भूतत्व। भूत का अर्थ है ऐसा विशेष गुणयुक्त पदार्थ जिसका वाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो।[1]

पृथ्वी, जल, तेज और *वायु*—इन चारों का समान धर्म है (१) *स्पर्शवत्त्व* (अर्थात् ये चारों द्रव्यों छुए जा सकते हैं) और (२) *द्रव्यारम्भकत्व* (अर्थात् ये चारों द्रव्य समवायि कारण हो सकते हैं)।

(९) आकाश और जीवात्मा का साधर्म्य—

.... *अथाकाश शरीरिणाम्* ।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ।

—भा० प० २७

आकाश और जीवात्मा के समान धर्म ये हैं—

(१) *अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणवत्त्व* और (२) *क्षणिकविशेषगुणवत्त्व* ।

आकाश का विशेष गुण है शब्द। शब्द जिस काल में कहीं (यथा शंखाकाश में) उत्पन्न होता है, उसी काल में वह अन्यत्र (यथा घटाकाश में) नहीं रहता है। इस कारण शब्द अव्याप्यवृत्ति गुण है। (क्योंकि वह एक ही समय आधार के सर्व देश में नहीं रहता)

इसी प्रकार आत्मा के विशेष गुण (ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि) भी अव्याप्यवृत्ति होते हैं। क्योंकि सुख वा दुःख आत्मा के एकदेश (शरीर विशेष) में ही उत्पन्न होता है ; व्यापक आत्मा के यावतीय प्रदेश में उसकी व्याप्ति नहीं होती।

---

[1] तच्च (भूतत्व) बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्त्वम् ।

—सि० मु०।

क्षणिक का अर्थ है "जो दो क्षणों के अनन्तर (तीसरे क्षण में) नष्ट हो जाय।*"

शब्द और सुख दुःखादि गुण क्षणिक होते हैं। अतएव आत्मा और आकाश, इन दोनों के विशेष गुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक कहे गये हैं।

(१०) विविध साधर्म्य—

रूपद्रवत्व प्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः।
आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः।

—भा० प० २८-२६

पृथ्वी, जल और *तेज के समान धर्म ये हैं*—(१) रूप (२) द्रवत्व (३) *प्रत्यक्षविषयत्व*।

पृथ्वी और जल के समान धर्म हैं—(१) *रस* और (२) *गुरुत्व*।

पृथ्वी और तेज का साधर्म्य है *नैमित्तिक* द्रवत्व। (सांसिद्धिक द्रवत्व केवल जल में ही है

आत्मा और पंचभूतों का साधर्म्य है *विशेषगुण*। अर्थात् इनमें ऐसे निजी विशेषगुण रहते हैं जो पदार्थान्तर में नहीं पाये जाते।

(२९)

बुद्धि

(१) यह आत्मा का विशेष गुण है।
(२) विषय मात्र के प्रत्यक्ष में कारण है।
(३) इसका समवायि कारण आत्मा है।
(४) असमवायि कारण है आत्ममनःसंयोग।
(५) निमित्त कारण है त्वक् मनःसंयोग।
(६) साधारण कारण हैं काल, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा, ईश्वरज्ञान और ईश्वर प्रयत्न।
(७) इसके दो भेद हैं—(१) अनुभव और (२) *स्मृति*।
(८) सविकल्पक बुद्धि मनोग्राह्य है; निर्विकल्पक बुद्धि अतीन्द्रिय है।
(९) यह जीवात्मा में अनित्य, और परमात्मा में नित्य होती है।

* क्षणिकत्वं तु तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्।

—सि० मु०

(३०)

बुद्धि के प्रकार

- बुद्धि
  - अनुभव
    - प्रमात्मक
      - प्रत्यक्ष
      - अनुमिति
      - उपमिति
      - शाब्द
    - अप्रमात्मक
  - स्मृति (पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्काराधीन ज्ञान विशेष)
    - प्रमात्मक
    - अप्रमात्मक

(३१)
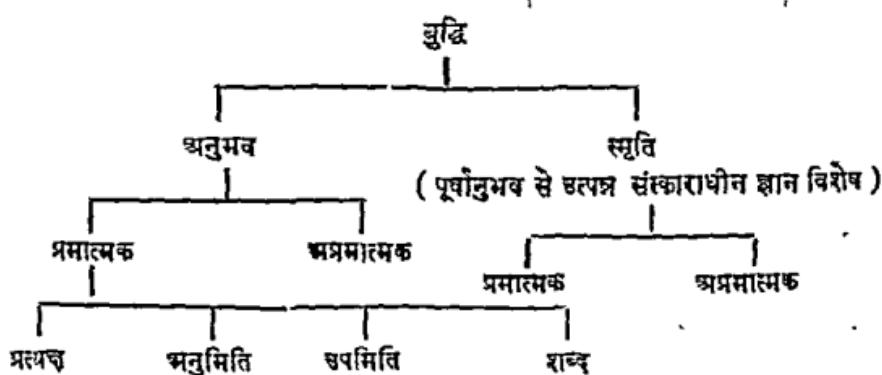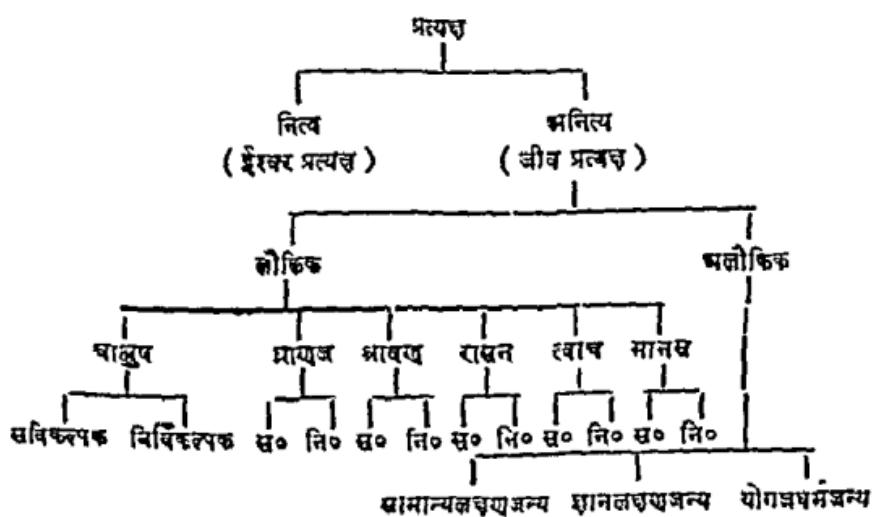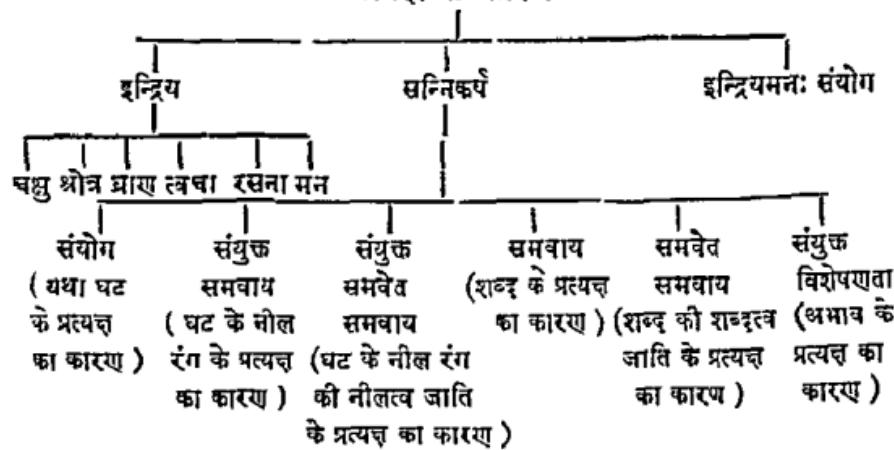
प्रत्यक्ष के प्रकार

नोट—निम्नोक्त सहकारी कारण भी आवश्यक हैं—

लौकिक प्रत्यक्ष में	विषयनिष्ठ महत्त्व
चाक्षुष प्रत्यक्ष में	आलोक संयोग + उद्भूत रूप
त्वाच प्रत्यक्ष में	उद्भूत स्पर्श
अभाव-प्रत्यक्ष में	प्रतियोगी की योग्यानुपलब्धि
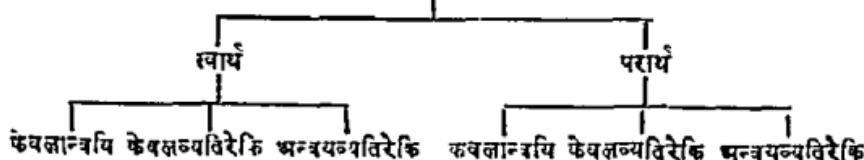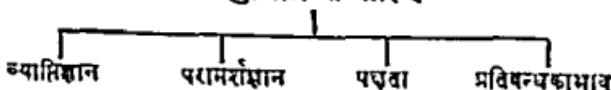
(३६)

हेत्वाभास के प्रभेद

हेत्वाभास

- १ अनैकान्तिक
  - १ साधारण
  - २ असाधारण
  - ३ अनुपसंहारी
- २ विरुद्ध
- ३ असिद्ध
  - १ आश्रयासिद्ध
  - २ स्वरूपासिद्ध
  - ३ व्याप्यत्वासिद्ध
- ४ सत्प्रतिपक्ष
- ५ बाधित(कालात्ययापदिष्ट)

(३७)

हेत्वाभास के उदाहरण

नाम	उदाहरण	दोष
१ अनैकान्तिक		
(१) साधारण	पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् (पहाड़ अग्नियुक्त है, क्योंकि वह प्रमेय है)	हेतुनिष्ठविपक्षवृत्तित्व
(२) असाधारण	शब्दो नित्यः शब्दत्वात (शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें शब्दत्व है)	हेतुनिष्ठसपक्षव्यावृत्तत्व
(३) अनुपसंहारी	सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् (सब कुछ अभिधेय है प्रमेय होने के कारण)	हेतुनिष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वादि
२ असिद्ध		
(१) आश्रयासिद्ध	काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात् (सोने का पहाड़ अग्नियुक्त है क्योंकि उसमें धुआँ है)	पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्ष
(२) स्वरूपासिद्ध	ह्रदो द्रव्यं धूमात् (जलाशय द्रव्य है क्योंकि उसमें धुआँ है)	हेत्वभाववत्पक्ष
(३) व्याप्यत्वासिद्ध	पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात् (पहाड़ अग्नियुक्त है, क्योंकि उसमें नील रंग का धुआँ है)	व्याप्यभाववद्धेतु
३ विरुद्ध	अयं गौरश्वत्वात् (यह बैल है, क्योंकि इसमे अश्वत्व है)	हेतुनिष्ठसाध्यासामानाधिकरण्य
४ सत्प्रतिपक्ष	ह्रदो वह्निमान् धूमात् (जलाशय अग्नियुक्त है, क्योंकि इसमें धुआँ है)	साध्याभावव्याप्यवत्पक्ष
५ बाधित	अग्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् (अग्नि गर्म नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है)	साध्याभाववत्पक्ष

(३८)

उपमिति के प्रकार

- साधर्म्यज्ञानजन्य
- वैधर्म्यज्ञानजन्य

(३६)

उपमिति के कारण

- सादृश्यादि ज्ञान (यथा गवय में गो का सादृश्य)
- अतिदेशवाक्यार्थ स्मृति ('गो सदृशो गवय पदवाच्य.')

(४०)

स्मृतिज्ञान के कारण

- अनुभव
- संस्कार
- उद्बोधक

(४१)

शाब्द बोध के प्रकार

- शब्दार्थ विषयक
  - रूढ़िज
  - योगज
  - योगरूढ़िज
- लक्ष्यार्थ विषयक
  - जहत्स्वार्थ लक्षण
  - अजहत्स्वार्थ लक्षण

(४२)

शाब्द बोध के कारण

- पद
- वृत्ति
- पदार्थोपस्थिति
- आकांक्षा
- योग्यता
- आसत्ति
- तात्पर्य

नोट—इनका विशेष विवरण प्रथम खण्ड [न्याय दर्शन] में देखिये।

(४३)
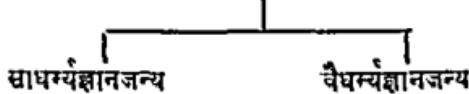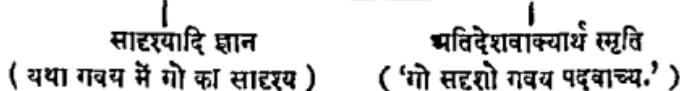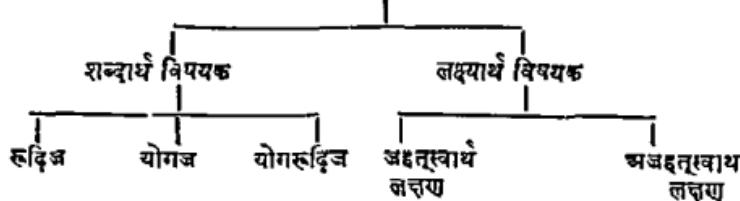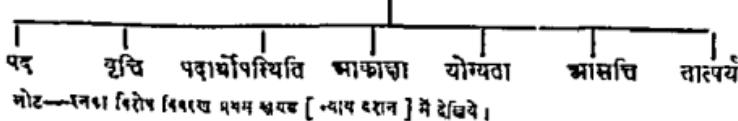
शाब्द बोध का उदाहरण

पद-पदार्थ के सम्बन्ध-ज्ञान से शाब्द बोध होता है।

उदाहरण—

नीलो घटः

यहाँ 'घट' (विशेष्य) है, 'नील' विशेषण (प्रकार) है। यहाँ नीलनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक धर्म है 'नीलत्व'। उससे अवच्छिन्न (विशिष्ट या युक्त) विशेष्य (घट) है।

जिस सम्बन्ध से प्रकार (विशेषण) विशेष्य में रहता है, वह सम्बन्ध प्रकारता का 'अवच्छेदक' सम्बन्ध कहा जाता है। जैसे,

'घटवद्भूतलम्।'

यहाँ प्रकार (घट) संयोग सम्बन्ध से विशेष्य (भूतल) में है। इसलिये यहाँ घटनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध हुआ संयोग सम्बन्ध।

इसी प्रकार, *नीलो घटः*

यहाँ प्रकार (नील) समवाय सम्बन्ध से विशेष्य (घट) में है। अतएव यहाँ नीलनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध हुआ समवाय सम्बन्ध।

दूसरे शब्दों में,

घटवद् भूतलम्

यहाँ घटनिष्ठ प्रकारता संयोग सम्बन्धावच्छिन्न है।

नीलो घटः

यहाँ नीलनिष्ठ प्रकारता समवायसम्बन्धावच्छिन्न है।
विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूपक भाव भी होता है।

नीलो घटः

यहाँ प्रकारता (नीलत्व) निरूपित विशेष्यता (घटत्व), अथवा विशेष्यता (घटत्व) निरूपित प्रकारता (नीलत्व) है।

अब '*नीलो घटः*' की व्याख्या समझिये।

विशेष्य क्या है? घट। कैसा? 'घटत्व' अवच्छेदक से अवच्छिन्न। वह 'घटत्व' उसमें कैसे है? समवाय सम्बन्ध से। वह घट किस प्रकारता (विशेषणता) से नि-

है ? नीलनिष्ठ प्रकारता से। वह नीलत्व किस सम्बन्ध से रहता है ? समवाय सम्बन्ध से। 'नील' और 'घट' का सम्बन्ध क्या है ? तादात्म्य सम्बन्ध। अब नव्यन्याय की भाषा सुनिये।

'घट'—इस पद की 'शक्ति' है—

"समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता।"

पुनः '*नील*' का योग होने से इसकी 'लक्षणा' यों होगी—

समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित नीलाश्रय निष्ठ विशेष्यता।

अब पूरा '*नीलो घटः*' लीजिये।

इसकी व्याख्या यों होगी—

समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वनिष्ठ अवच्छेदकता-निरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलनिष्ठप्रकारतानिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता।

इसी तरह

'घटवद् भूतलम्'

की व्याख्या इस प्रकार होगी—

संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित भूतलत्वावच्छिन्न (भूतलनिष्ठ) विशेष्यता निरूपक जो ज्ञान वह '*घटवद् भूतलम्*' इत्याकारक ज्ञान है।

इसी प्रकार,

'नीलघटवद् भूतलम्'

की व्याख्या यों की जायगी—

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता-निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित भूतलत्वावच्छिन्न (भूतलनिष्ठ) विशेष्यता निरूपक जो ज्ञान वह '*नीलघटवद् भूतलम्*' इत्याकारक ज्ञान है।